

2

बच्चों की परवरिश



अमुक्त बच्चा

एक साँचे में ढला हुआ, अनुकूलित, अनुशासित, दमित बालक यानी अमुक्त बच्चा जो 'असंख्य' है, दुनिया के हर कोने में बसता है। वह हमारे शहर में, सामने वाली गली में रहता है। वह एक उबारू स्कूल में एक उबारू मेज़ पर बैठता है। बाद में वह किसी दफ्तर की उबारू मेज़ पर या फैक्ट्री की बेंच पर बैठता है। वह सहमा होता है, अधिकारियों की आज्ञा का पालन करता है, आलोचना से डरता है। उसमें सामान्य, परम्परावादी और सही बने रहने की कट्टर इच्छा होती है। उसे जो कुछ पढ़ाया गया है, वह बिना सवाल किए स्वीकारता है। और बाद में वह अपनी तमाम ग्रन्थियाँ, अपनी कुण्ठाएँ अपने बच्चों को विरासत में देता है।

मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि बच्चे को अधिकतर मानसिक नुकसान उसकी ज़िन्दगी के पहले पाँच सालों में पहुँचता है। शायद यह कहना और भी सच हो कि पाँच साल तो क्या शायद पहले पाँच महीनों, पहले पाँच सप्ताह या पहले पाँच मिनटों में भी बच्चे को ऐसी क्षति पहुँचाई जा सकती है जो ताउम्र उसे परेशान करती है।

अमुक्ति जन्म से ही प्रारम्भ होती है या कहेँ जन्म से भी पहले। अगर कोई दमित महिला अपने जकड़े हुए शरीर में गर्भधारण करती है, तो उसकी जकड़न उसके बच्चे पर क्या असर करती है यह भला कौन बता सकता है?

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हमारी सभ्यता के सभी बच्चे जीवन-निन्दा के वातावरण में जन्मते हैं। जो समयानुसार बच्चों को खिलाने-पिलाने की बात करते हैं, वे मूलतः आनन्द विरोधी हैं। वे अपने बच्चे को अनुशासित तरीके से खिलाना-पिलाना चाहते हैं क्योंकि उनके अनुसार गैर अनुशासित स्तनपान उत्तेजना भरे सुख के समान है। पोषण की बात आम तौर पर एक तर्क के रूप में परोसी जाती है, जबकि असल उद्देश्य तो बच्चों को एक ऐसे अनुशासित जीव में ढालना है जो आनन्द से पहले कर्तव्य को रखे।

हम एक सामान्य सरकारी स्कूल के बच्चे जॉन स्मिथ की ज़िन्दगी पर विचार करें। उसके माता-पिता खुद तो कभी-कभार ही गिरजा जाते हैं, पर उनका आग्रह होता है कि जॉन हर इतवार धार्मिक शिक्षा की कक्षा में ज़रूर जाए। उसके माता-पिता ने आपसी शारीरिक आकर्षण के कारण विवाह किया था। उन्हें विवाह करना ही

था क्योंकि उनके समुदाय में यौन सम्बंध तभी स्थापित किए जा सकते हैं जब आप इज़्जतदार हों - यानी विवाहित हों। पर शारीरिक आकर्षण अपने आप में काफी नहीं है। उनके स्वभावों के अन्तर ने घर को एक बोझिल-सी जगह में बदल दिया। दोनों में यदाकदा धीमी आवाज़ में बहस होती है। कुछ स्नेह भरे नाजुक पल भी हैं, उन्हें नन्हा जॉन स्वाभाविक मानता है। पर माँ-बाप के बीच ऊँची आवाज़ में बहस उसके दिमाग को झिंझोड़ देती है। वह डर जाता है और रोता है। अकारण रोने के नाम पर उसकी पिटाई होती है।

उसका अनुकूलन शुरू से प्रारम्भ हो गया था। समयानुसार स्तनपान से वह काफी कुंठित हुआ था। उसे भूख लगी होती थी, पर घड़ी कहती कि अभी घण्टे भर की देरी है। उसे ढेरों कपड़ों में जकड़ा जाता था। वह ज़ोर से लतियाना चाहता, पर ऐसा कर नहीं पाता। भूख की कुंठा ने उसे अंगूठा चूसने पर मजबूर किया। पर परिवार के डॉक्टर ने कहा कि यह गन्दी आदत छुड़ानी चाहिए। माँ को कहा गया कि या तो वह कमीज़ खींचकर उसके हाथ को ही बांध दे या कोई कड़वी चीज़ उसके अँगूठे पर लगाए। जब तक वह लंगोट बाँधने की उम्र में था उसके स्वाभाविक कामों में कोई परेशानी नहीं हुई। पर जब वह घुटनों से रेंगने लगा और फर्श गन्दा करने लगा तो *शैतान* और *गन्दी बात* जैसे शब्द घर में तैरने लगे। और यूँ उसे साफ रहना सिखाने की निष्ठुर शुरुआत हुई।

इससे पहले जब भी वो अपने शिश्न को छूता उसका हाथ खींच दिया जाता। नतीजतन जल्द ही वो शिश्न छूने के प्रतिबंध को मल के प्रति घिन से जोड़ने लगा। सालों बाद जब वो सेल्समेन बना तो सफर के दौरान अक्सर यौन और टॉयलेट सम्बंधित चुटकुले सुनाता।

उसके प्रशिक्षण पर उसके सम्बंधियों और पड़ोसियों का भी प्रभाव था। माँ और पिता सही होने को लेकर चिन्तित रहते। इसलिए जब भी सम्बंधी या पड़ोसी आते, जॉन को सुप्रशिक्षित बच्चा बनकर दिखाना होता। जब आंटी उसे चॉकलेट देती तो उसे *धन्यवाद* कहना पड़ता, मेज़ पर ढंग से खाना पड़ता और जब बड़े बातचीत करते उसे बीच में नहीं बोलने का खास ध्यान रखना पड़ता। उसकी इतवार की वेशभूषा दरअसल पड़ोसियों की पसन्द से तय होती थी। प्रतिष्ठा के इस प्रशिक्षण का एक हिस्सा था झूठ बोलने की पेचीदा प्रणाली। इस प्रणाली का उसे आभास भी नहीं था। दरअसल उससे बचपन से ही झूठ बोलना शुरू हो चुका था। उसे कहा गया था कि ईश्वर उन शैतान बच्चों को प्यार नहीं करता जो गाली देते हैं, अगर वह ट्रेन में भाग-दौड़ मचाएगा तो कंडक्टर उसे पीटेगा।

जीवन के बारे में उसकी जिज्ञासा के जवाब में भी उसे झूठ ही मिला। ये झूठ इतने प्रभावी थे कि जीवन और जन्म को लेकर उसकी जिज्ञासा ही समाप्त हो गई।

जीवन का यह झूठ उस भय से जुड़ गया जब पाँच साल की उम्र में माँ ने उसे अपने और अपनी चार साल की बहन या पड़ोस की लड़की के शारीरिक अंतरों में रुचि दिखाते पकड़ा। इसके बाद उसकी जो धुनाई हुई (पिता ने भी घर लौटने पर बाकी की कसर निकाली) उसने उसके दिमाग में हमेशा के लिए यह सीख डाल दी कि सेक्स गन्दी और पाप भरी चीज़ है और इसके बारे में सोचना तक गलत है। बेचारे जॉन को सेक्स को लेकर अपनी भावनाओं को अन्दर ही दबाना पड़ा। परिणामस्वरूप किशोर उम्र में जब भी वो सिनेमा देखने जाता तो पर्दे पर किसी महिला के यह बोलने पर कि उसे तीन माह का गर्भ है वह ज़ोर-ज़ोर से हंस देता।

बौद्धिक रूप से जॉन का विकास सामान्य था। वह आसानी से सीख लेता था इसलिए बेवकूफ शिक्षकों की तीखी टिप्पणियों या सज़ा से वह बच गया। स्कूल में उसने थोड़ा बहुत अनावश्यक ज्ञान पाया और ऐसी संस्कृति में ढला जो घटिया अखबारों, फिल्मों या जासूसी कहानियों से संतुष्ट की जा सकती थी।

जॉन के लिए मिल्टन का नाम केवल मुँह साफ करने वाले द्रव से जुड़ा है। उसके लिए बीथोवन और बाख ऐसे लोग थे जो एलविस प्रेस्ली और बाइंडरबेक बैण्ड सुनने में बाधक हैं।

जॉन का एक अमीर चचेरा भाई रेजिनाल्ड वर्धिगटन निजी स्कूल में पढ़ा। पर मूलतः उसका विकास भी गरीब जॉन जैसा ही था। उसने भी जीवन में जो कुछ दोयम दर्जे का था उसे स्वीकारना सीखा और वही *यथास्थिति* की गुलामी पाई और वही प्रेम व आनन्द को नकारना सीखा।

क्या जॉन और रेजिनाल्ड का यह चित्रण एक-तरफा व्यंग चित्रण है? पूरी तरह नहीं। पर मैंने पूरी स्थिति का चित्रण नहीं किया है। मैंने दोनों की मानवीय ऊष्मा को छोड़ दिया है, वह मानवीयता जो भयानक से भयानक चारित्रिक अनुकूलन के बावजूद बची रहती है। जीवन में हमें ज़्यादातर स्मिथ और वर्धिगटन जैसे लोग ही मिलते हैं। वे कमोबेश अच्छे, दोस्ताना लोग होते हैं, बचकानी आस्थाओं और अंधविश्वास से भरे, बच्चों का सा विश्वास और निष्ठा लिए। वे और उन जैसे तमाम लोग ऐसे नागरिक बनते हैं जो देश के नियम रचते हैं और मानवीयता की माँग करते हैं। ये ही वे लोग हैं जो माँग करते हैं कि पशुओं को मारते समय मानवीयता बरती जाए, अपने पालतू जानवरों की लोग सही देखभाल करें। पर जब मनुष्य, मनुष्य के प्रति अमानवीय होता है तब वे बिखर-से जाते हैं। वे बिना सोचे समझे एक क्रूर दण्ड संहिता अपनाते हैं और युद्ध के दौरान लोगों का मरना स्वाभाविक मान लेते हैं।

जॉन और उसका अमीर चचेरा भाई दोनों ही सहमत हैं कि प्रेम व विवाह के नियम बेवकूफी भरे, क्रूर और घृणास्पद हैं? प्रेम के मामले में वे इससे भी सहमत हैं कि

पुरुषों के लिए एक कानून हो और औरतों के लिए दूसरा। दोनों ही यह माँग करते हैं कि जिन लड़कियों से उनका विवाह हो, वे कुंवारी हों। पर अगर उनसे पूछा जाए कि उनका खुद का कौमार्यभंग हुआ है या नहीं, तो उनकी भौहें तन जाती हैं। वे कहते हैं, “पुरुषों की बात अलग है।”

दोनों ही पितृप्रधान राजसत्ता के प्रबल समर्थक हैं, फिर चाहे उन्होंने यह शब्द सुना हो या नहीं। वे दोनों पितृप्रधान राजसत्ता के ऐसे उत्पाद हैं जिनकी उसे आगे बरकरार रखने के लिए ज़रूरत है। उनकी भावनाएँ *व्यक्तिगत* भावनाओं की बजाय *भीड़* की भावनाएँ होती हैं।

जिस स्कूल से वे घृणा करते थे उसे छोड़ने के सालों बाद वे कहते हैं, “स्कूल में मेरी पिटाई हुई थी, और उसका मुझे बड़ा फायदा हुआ।” और वे अपने बच्चों को भी उसी या उस जैसे किसी स्कूल में दाखिल करवाते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वे अपने पिता की सत्ता को बिना रचनात्मक विद्रोह के स्वीकारते हैं। और यँ पितृसत्ता की परिपाटी पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती जाती है।

जॉन स्मिथ के चित्रण को पूरा करने के लिए मुझे उसकी बहन मेरी का भी संक्षिप्त परिचय देना चाहिए। संक्षिप्त इसलिए क्योंकि जिस दमनकारी वातावरण में वह पली-बढ़ी है वह ठीक वैसा ही है जिसमें जॉन का दम घुटता रहा है। पर उसके लिए कुछ और विशेष बाधाएँ हैं जिनका जॉन को सामना नहीं करना पड़ा। पितृप्रधान समाज में उसकी स्थिति नीची है और यह समझने, स्वीकारने के लिए उसे प्रशिक्षित किया गया है। उसे घरेलू काम में मदद करनी पड़ती है, पर जॉन उस समय खेल या पढ़ सकता है। वह यह भी जल्दी ही सीख लेती है कि जब वह नौकरी करेगी तो उसे पुरुषों से कम वेतन मिलेगा।

पुरुषों के बनाए समाज में अपनी हीन स्थिति के विरुद्ध मेरी सामान्यतः विद्रोह नहीं करती। पुरुष इसके लिए कुछ क्षतिपूर्ति भी करता है, फिर चाहे वह फूहड़ ही क्यों न हो। उसके प्रति सही व्यवहार किया जाता है, स्त्री न बैठे तो पुरुष भी नहीं बैठता। मेरी को परोक्ष रूप से यह सिखाया जाता है कि उसका मुख्य काम है बेहद खूबसूरत लगना। परिणामस्वरूप उसकी किताबों और स्कूल पर जितना खर्च किया जाता है उससे कई गुना अधिक कपड़ों और श्रृंगार प्रसाधनों पर होता है।

जहाँ तक सेक्स का सवाल है मेरी अपने भाई जैसी अबोध और दमित है। एक पितृप्रधान समाज में मर्द ही यह तय करते हैं कि महिलाएं पाक, कुंवारी और मासूम हों। मेरी का कोई दोष नहीं कि वह इसी दृढ़ विश्वास के साथ बड़ी हुई कि महिलाओं का मन पुरुषों की बनिस्बत ज़्यादा पवित्र होता है। कुछ अप्रकट तरीकों से पुरुषों ने महिलाओं में यह सोच और अहसास डाला है कि जीवन में उनका मुख्य काम सिर्फ बच्चे पैदा करना है और भोग मर्दों का अधिकार क्षेत्र है।

मेरी की दादी और शायद उसकी माँ के लिए भी सेक्स तब तक एक प्रतिबंधित चीज़ रही जब तक कि उनका विवाह नहीं हो गया। मेरी उस विचार से तो आगे बढ़ी है परन्तु उसके प्रेम जीवन में हमेशा गर्भवती होने का डर सवार रहता है। उसे मालूम है कि अवैध सन्तान, पति मिलने के उसके अवसरों को कम कर देगी।

भविष्य का एक मुख्य काम दमित सेक्स ऊर्जा और मानव रोग के सम्बंध की पड़ताल करना होगा। जॉन स्मिथ शायद गुर्दे के रोग से मर जाए और मेरी कैंसर का शिकार हो जाए। लेकिन दोनों को यह अहसास नहीं होगा कि उनकी बीमारी और दमित भावनाओं में क्या रिश्ता है। एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब मानव जान जाए कि उसने जो सभ्यता विकसित की है वही इन तमाम दुखों, घृणा और रोगों की जननी है। क्योंकि वास्तव में यही सभ्यता जीवन-रोधी है। अनुशासित चरित्र प्रशिक्षण ही मानव शरीर को जड़ बनाता है - सिकुड़ा और दबा हुआ, न कि जिन्दा और धड़कता। इसी तर्क के आधार पर हम समझ सकते हैं कि ऐसी ही जड़ निष्क्रियता शरीर के हर अंग में स्पन्दन की अवरोधक बनती है जो जीने के लिए ज़रूरी है।

मेरा मानना है कि अमुक्त शिक्षा से गुज़रे लोग जीवन को भरपूर नहीं जी सकते। ऐसी शिक्षा *भावनाओं* की उपेक्षा करती है। भावनाएँ परिवर्तनशील होती हैं, उन्हें अभिव्यक्त करने के अवसरों का अभाव छिछोरेपन, कुरूपता और घृणा में बदलता है। हमारी शिक्षा का सरोकार सिर्फ दिमाग से रहता है। जबकि वास्तविकता यह है कि अगर भावनाओं को, सच में मुक्त रहने दिया जाए तो बौद्धिक विकास स्वतः ही हो जाता है।

मनुष्य की त्रासदी यही है कि ठीक एक कुत्ते की तरह उसके चरित्र को भी गढ़ा जा सकता है पर यह आप बिल्ली के साथ नहीं कर सकते, जो कुत्ते से श्रेष्ठ जानवर है। आप कुत्ते में अपराध बोध जगा सकते हैं पर बिल्ली में नहीं। फिर भी लोगों को कुत्ते पसन्द हैं क्योंकि वे आज्ञा मानते हैं और चाटुकारिता में दुम हिलाते हैं, जो उसके मालिक की श्रेष्ठता और महत्ता को पुष्ट करती है।

शिशु का प्रशिक्षण कुत्तों के प्रशिक्षण जैसा ही होता है। एक पिटा हुआ बच्चा आज्ञाकारी व दीन वयस्क बनता है, ठीक वैसे जैसे एक पिटा हुआ पिल्ला। हम कुत्तों को अपनी सुविधा के अनुसार प्रशिक्षित करते हैं, वैसे ही अपने बच्चों को भी करते हैं। बालवाड़ी में मानव कुत्तों को साफ रहना पड़ता है, अधिक भौंकने की इजाज़त नहीं होती, सीटी की आवाज़ का अनुपालन करना पड़ता है। वे तब ही खाना खा सकते हैं जब हमें उन्हें खिलाने में सुविधा हो।

जब 1935 में बर्लिन के टेम्पलहॉफ में हिटलर नामक प्रशिक्षक ने सीटी बजाई तो मुझे हज़ारों हज़ार आज्ञाकारी कुत्ते दुम हिलाते दिखे।

पेनसिल्वेनिया के महिला मेडिकल कॉलेज के अस्पताल में कुछ साल पहले गर्भवती माताओं के लिए कुछ निर्देश छापे गए थे। उनमें से कुछ मैं उद्धृत करना चाहूँगा:

‘अँगूठा और उंगलियाँ चूसने की आदत रोकने के लिए बच्चों का पूरा हाथ कार्डबोर्ड की नली में बाँध देना चाहिए ताकि वह कोहनी मोड़कर मुँह तक अँगूठा या उंगलियाँ न ले जा सके।’

‘गुप्तांगों को साफ रखना चाहिए ताकि बच्चे को कोई असुविधा न हो, रोग न हो या गलत आदत न पड़ जाए।’

मैं बच्चों के पालन-पोषण के गलत तौर-तरीकों के लिए चिकित्सकों को ज़िम्मेदार मानता हूँ। दरअसल चिकित्सक इस बारे में सलाह देने के लिए प्रशिक्षित भी नहीं होता। फिर भी कई माताओं की नज़र में वह खुदा ही होता है। जब वो माँ से कहता है कि हस्तमैथुन करने वाले बच्चों की पिटाई की जानी चाहिए तो माँ को यह अंदाज़ नहीं होता कि यह वह अपने खुद की यौन ग्रन्थि से बता रहा है, बाल प्रवृत्ति की वैज्ञानिक समझ से नहीं। चिकित्सक ही समयबद्ध खाना खिलाने की बात करते हैं, उंगली या अँगूठा चूसना बंद करवाते हैं, दूसरे बच्चों से खेलना निषिद्ध करते हैं और बच्चों की मर्ज़ी के आड़े आने की सलाह देते हैं।

जो बच्चा समस्यात्मक है वह ज़रूर ऐसा बच्चा है जिस पर स्वच्छता और यौन दमन का दबाव है। वयस्क यह मान कर चलते हैं कि बच्चों को ऐसा आचरण सिखाना चाहिए ताकि वे बड़ों को यथा सम्भव शांति से जीने दें। यही कारण है कि आज्ञाकारिता, आचरण और दबूपन पर इतना बल दिया जाता है।

हाल ही में मैंने एक माँ को देखा जो अपने तीन साल के बच्चे को अपने घर के बाग में छोड़कर अन्दर गई। बच्चे के कपड़े साफ थे। वह मिट्टी में खेलने लगा और यूँ कपड़े कुछ गन्दे हो गए। माँ दौड़ी हुई आई उसे पीटा, अन्दर ले जाकर कपड़े बदले और नए कपड़ों में उसे रोता छोड़ गई। दसके मिनट गुज़रे होंगे कि उसने कपड़े फिर गन्दे कर लिए। वही प्रक्रिया दोहराई गई। मैंने सोचा कि जाकर उस माँ से कहूँ कि उसका बच्चा उससे ताउम्र नफरत करता रहेगा। यह भी सम्भव है कि वह जीवन से ही घृणा करने लग जाए। पर मुझे यह अहसास हुआ कि मैं जो भी कहूँगा वह उसके पल्ले नहीं पड़ेगा। इसी तरह कस्बे या शहर में किसी तीन साल के बच्चे के लुढ़ककर गिरने पर उसकी माँ उसे पीटती है। इसे देख मेरा दिल बैठ जाता है।

प्रत्येक रेल यात्रा के दौरान एक न एक माँ अपने बच्चे से कहती, “अगर तुम बाहर गलियारे में गए तो कंडक्टर तुम्हें पकड़कर ले जाएगा।” अधिकांश बच्चों का पोषण ऐसे ही झूठों और अनभिज्ञता से जन्मे निषेधों द्वारा किया जाता है।

कई माताएँ जो घर में बच्चों के साथ ठीक-ठाक व्यवहार करती हैं, घर से बाहर उन पर बरसती और पीटती हैं। क्योंकि वे पड़ोसियों की राय से डरती हैं। बचपन से ही बच्चे को इस पागल समाज के अनुरूप बनने पर मजबूर किया जाता है।

एक बार मैं इंग्लैण्ड के समुद्रतट पर बसे एक कस्बे में भाषण दे रहा था। मैंने कहा, “क्या आप माताएँ यह समझती हैं कि आप जितनी बार बच्चे को मारती हैं आप दरअसल यह जताती हैं कि आप बच्चे से नफरत करती हैं?” इसकी ज़ोरदार प्रतिक्रिया हुई। मुझे पर वे चिल्लाईं। बाद में मैंने सवाल किया, “हम अपने घरों का नैतिक व धार्मिक वातावरण कैसे सुधार सकते हैं?” श्रोता फुफकारने लगे। मैं सकते में आ गया। क्योंकि अमूमन जब मैं भाषण देता हूँ तो मैं उन लोगों को सम्बोधित करता हूँ जो उन्हीं बातों में विश्वास करते हैं जिनमें मैं भी विश्वास करता हूँ। पर यहाँ मेरे श्रोता कामगार और मध्यवर्ग के थे। उन्होंने बाल-मनोविज्ञान के बारे में कभी सुना नहीं था। मुझे अहसास हुआ कि बहुसंख्यक जनता, बच्चों की आज़ादी, अपनी खुद की आज़ादी के विरुद्ध किस कदर लामबन्द है।

हमारी सभ्यता रोगी है, दुखी है, और मेरा मानना है कि इसकी जड़ है अमुक्त परिवार। परिवार में प्रतिक्रिया और नफरत की ताकतें बच्चों को मारती हैं। उस समय से ही जब वह पालने में होता है। उन्हें जीवन को नकारने को प्रशिक्षित किया जाता है। उनका बाल जीवन ही एक प्रकार से नकारना होता है। शोर मत करो, हस्तमैथुन मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो।

जीवन में जो कुछ नकारात्मक है उसे उन्हें स्वीकारना सिखाया जाता है - बड़ों के प्रति श्रद्धा रखो, धर्म के प्रति श्रद्धा रखो, मास्टरजी के प्रति श्रद्धा रखो, पिता के बनाए कानूनों के प्रति श्रद्धा रखो। सवाल न पूछो, केवल आज्ञापालन करो आदि-आदि।

जो श्रद्धेय न हो उसके प्रति श्रद्धा रखना कोई सद्गुण नहीं है। न ही किसी ऐसे पुरुष या स्त्री के साथ जीना ही सद्गुण है जिससे आप प्रेम न करते हों। ऐसे ईश्वर के प्रति श्रद्धा रखना कोई सद्गुण नहीं है जिससे आप दरअसल खोफ खाते हों।

त्रासदी यह है कि जो व्यक्ति अपने परिवार को बन्धन में रखता है वह स्वयं भी गुलाम होता है। क्योंकि जेल में जेलर भी बन्द ही होता है। इन्सान की गुलामी नफरत की गुलामी है। वह अपने परिवार का दमन करता है और ऐसा करते समय वह अपने जीवन का भी दमन करता है। उसे अपने ही दमन से पीड़ित लोगों के लिए अदालतें और जेल बनाने पड़ते हैं।

गुलाम स्त्रियों को अपने बेटे युद्धों में बलि चढ़ाने पड़ते हैं। ऐसे युद्ध जिन्हें इन्सान रक्षात्मक युद्ध, देशभक्ति के युद्ध, लोकतंत्र को बचाने के युद्ध, या युद्धों को खत्म

करने के युद्ध कहता है।

बच्चा कभी समस्यात्मक होता ही नहीं है, समस्यात्मक होते हैं केवल माता-पिता। शायद यह कहना बेहतर हो कि *समस्यात्मक है केवल मानवजाति*। यही कारण है कि एंटम-बम इतना भयावह है। क्योंकि वह उन लोगों के हाथ है जो जीवन-विरोधी हैं। जिस बच्चे के हाथ पालने में बाँधे गए हों वह जीवन-विरोधी क्योंकर न होगा?

मानवजाति में भाईचारा और प्रेम प्रचुर मात्रा में है। मेरा विश्वास है कि नई पीढ़ी के बच्चे जिन्हें बचपन से जकड़ा न गया हो एक-दूसरे के साथ शान्ति से जी सकेंगे। पर यह तब ही सम्भव होगा जब, इसके पहले कि आज के घृणा करने वाले इस दुनिया को तबाह कर दें, नई पीढ़ी दुनिया का नियंत्रण हाथ में ले।

यह संघर्ष गैर-बराबरी का संघर्ष है। क्योंकि घृणा करने वाले ही आज शिक्षा, धर्म, कानून, सेना और कैदखानों को नियंत्रित करते हैं। मुट्ठी भर शिक्षक ही शायद ऐसे हों, जो बालक में निहित अच्छाइयों को आज़ादी से पनपने देते हैं। जीवन विरोधी तत्वों के समर्थक ही अधिकांश बच्चों को अपनी घृणास्पद दण्ड प्रणाली द्वारा लगातार गढ़ और ढाल रहे हैं।

कॉन्वेंट स्कूलों में लड़कियों को अभी भी नहाते वक्त बदन को ढांपे रखना होता है ताकि वे अपने शरीर को न देख पाएं। पालक और शिक्षक लड़कों को अभी भी बताते हैं कि हस्तमैथुन एक पाप है जिसका नतीजा है पागलपन और अन्य भयावह परिणाम। हाल ही में मैंने एक महिला को देखा जो अपने दस माह के बच्चे को इसलिए मार रही थी क्योंकि वह प्यास के कारण रो रहा था।

यह स्पर्धा है जड़ता में विश्वास करने वालों और जीवन में आस्था रखने वालों के बीच की। इसमें कोई भी निष्पक्ष नहीं रह सकता। क्योंकि इसका अर्थ होगा मृत्यु। हमें एक या दूसरे खेमे में होना ही है। जो मृत्यु पक्ष है वह हमें समस्यात्मक बच्चा देता है, और जीवन पक्ष एक स्वस्थ बालक।

मुक्त बच्चा

दुनिया में स्वनिर्देशित बच्चे इतने कम हैं कि उनके वर्णन का कोई भी प्रयास अन्तरिम ही हो सकता है। इसके जो परिणाम देखे गए हैं उनसे एक नई सभ्यता के जन्मने का संकेत मिलता है। ऐसी सभ्यता जिसका चरित्र किसी भी राजनैतिक दल द्वारा तय किए गए समाज से भिन्न होगा।

स्वसंचालन में मानव स्वभाव की अच्छाइयों में विश्वास निहित है। इसकी जड़ में यह विश्वास है कि न कोई 'मूल पाप' है, न कभी था।

किसी ने एक पूर्णतः स्वनिर्देशित बच्चा नहीं देखा है। आज का हरेक बच्चा अपने माता-पिता, शिक्षक और समाज द्वारा ढाला गया है। जब मेरी बेटी ज़ोई दो साल की थी तो *पिक्चर पोस्ट* नामक पत्रिका ने उसके चित्रों के साथ एक लेख छपा था। उनकी राय में ब्रिटेन भर की वही एकमात्र स्वनिर्देशित बच्ची थी, जिसकी स्वतंत्र बच्चे के रूप में पलने बढ़ने की सम्भावना थी। यह बात पूरी तरह सच नहीं है, क्योंकि वह एक ऐसे स्कूल में रहती थी, और अब भी रह रही है जहाँ सभी बच्चे स्वनिर्देशित नहीं हैं। ये बच्चे पहले से ही अनुकूलित थे और क्योंकि चरित्र गढ़ने की कोशिश से भय पनपता है, ज़ोई का सम्पर्क ऐसे भी कुछ बच्चों से था जो जीवन विरोधी हैं।

वह ऐसे वातावरण में पली जहाँ पशुओं के प्रति कोई भय नहीं था। फिर भी एक दिन मैंने एक खेत के पास गाड़ी रोककर कहा, “चलो बाँ-बाँ करती गाएँ देखते हैं।” वह अचानक भयभीत लगी ओर बोली, “ना, ना, गाएँ खा जाती हैं।” यह उसे एक ऐसे सात साल के बच्चे ने बताया था जो स्वनिर्देशित नहीं था। सच है कि यह भय केवल एक या दो सप्ताह रहा। बाद में झाड़ियों में घात लगाए शेरों के भय ने भी कुछ समय तक उसके जीवन को प्रभावित किया।

लगता है कि स्वनिर्देशित बालक अनुकूलित बच्चों के प्रभाव से उपजे भय पर तुलनात्मक रूप से कम समय में काबू पा लेते हैं। ज़ोई में दूसरों से पाए भय ओर रुचियों से उपजा दमन कभी लम्बे समय तक नहीं टिका। पर यह कोई नहीं बता सकता है कि इन भयों का उसके चरित्र पर क्या स्थाई असर पड़ा होगा।

दुनिया भर से आए तमाम मेहमानों ने ज़ोई को देखकर कहा, “यह बिल्कुल नई बात है। बच्ची में लावण्य संतुलन है और आनन्द है। आसपास के वातावरण के साथ उसका रिश्ता शान्ति का है, युद्ध का नहीं।” एक मनोरोग ग्रस्त समाज में जितना यह सम्भव है उतना भर उसमें मिलता है। लगता है कि आज्ञादी और उच्छृंखलता का अंतर उसे स्वतः और स्वाभाविक रूप से पता है।

स्वनिर्देशित बच्चे के सामने तमाम खतरों में एक यह भी है कि वयस्क उसमें ज़रूरत से ज़्यादा रुचि लेते हैं। फलस्वरूप वह हमेशा उनके ध्यान के केन्द्र में रहता है। सम्भव है कि स्वनिर्देशित बच्चों के समुदाय में जहाँ सभी बच्चे स्वाभाविक हों, स्वतंत्र हों, कोई एक बच्चा ध्यान का केन्द्र न बने। किसी एक को सबके सामने नुमाइश करने को प्रोत्साहित न किया जाए। ऐसे में दूसरे बच्चों में वह जलन भी न भड़के जो एक आज्ञाद बच्चे को देख उनमें पैदा होती है।

अपने दोस्त टेड की तुलना में ज़ोई के अंग खुले ओर लचीले थे। जब उसे उठाया

जाता तो उसका शरीर तनावमुक्त रहता। पर टेड को उठाना आलू के बोरे को उठाने के समान लगता है। उसका शरीर कभी ढीला नहीं छूटता। उसकी प्रतिक्रियाएँ पूरी तरह बचाव व विरोध की होतीं। वह हर तरह से जीवन विरोधी था।

मेरी घोषणा है कि स्वनिर्देशित बच्चे उस अप्रिय चरण से नहीं गुज़रेंगे। उन्हें इसकी ज़रूरत ही नहीं होगी। अगर बच्चों को शिशु अवस्था से ही बांधा और जकड़ा नहीं गया हो तो कोई कारण नहीं कि बड़े होकर उनमें माता पिता के प्रति विद्रोह जागे। जो घर अर्धस्वतंत्र हैं, जहाँ माता पिता और बच्चों में समता है, वहाँ भी उनसे मुक्त होने का विद्रोह नहीं जन्मता है।

स्वनिर्देश का मतलब है शिशु का मुक्त रूप से जीने का अधिकार। जहाँ बाहरी मानसिक व दैहिक अनुशासन न हों। इसका मतलब होगा वह तब खाए जब वह भूखा हो, वह तब साफ रहे जब वह खुद रहना चाहे, उस पर कोई चिल्लाए नहीं, उसे पीटा न जाए, उसे हमेशा प्यार व संरक्षण दिया जाए।

सुनने में यह बड़ा आसान, स्वाभाविक और अच्छा लगता है पर आश्चर्य यह होता है कि कितने नौजवान माता पिता इसे गलत समझ लेते हैं। चार साल का टॉमी पड़ोसियों के पियानो को डंडे से ठोकता है। प्रेम में डूबे उसके माता पिता गर्व से मुस्कुराते हुए उसे देखते हैं। इस मुस्कान का अर्थ होता है 'स्वनिर्देशन कितनी अच्छी बात है ना?'

कुछ माँ-बाप यह सोच बैठते हैं कि उन्हें अपने अठारह माह की नन्हीं को कभी ज़बरदस्ती सुलाना ही नहीं चाहिए, क्योंकि यह प्रकृति के काम में नाजायज़ दखलंदाज़ी करना होगा। पर सच यह है कि जब बच्चा थक जाए तो उसे जागते नहीं रहना चाहिए। उसे उसके बिस्तर पर सुलाना चाहिए। क्योंकि होता यह है कि थकने पर बच्चा चिड़चिड़ा हो जाता है। वह खुद यह कह नहीं सकता कि वह सोना चाहता है। अमूमन एक दुखी माँ चीखते-चिल्लाते बच्चे को उठाकर सुलाने ले जाती है। एक दम्पति ने मुझसे यह पूछा कि बच्चे के कमरे में अलाव के सामने जाली लगानी चाहिए या ऐसा करना गलत होगा। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि कोई भी विचार - नया या पुराना खतरनाक सिद्ध होगा जब तक उसके उपयोग में सहजबुद्धि का पुट न हो।

कोई बेवकूफ ही बच्चे को ऐसे कमरे में सुलाएगा जिसकी खिड़कियाँ सुरक्षित न हों, कमरे में जलने वाली आग से बचाव का उपाय न किया गया हो। स्वनिर्देशन के प्रति उत्साही लोग हमारे स्कूल में आने पर अक्सर आज़ादी के अभाव पर टिप्पणी करते हैं। वे जानना चाहते हैं कि हमारी प्रयोगशाला की अलमारी में ताले क्यों हैं, छत पर या आग लगने पर बच निकलने वाले रास्ते में खेलना क्यों मना है?

आज़ादी का यह पूरा आन्दोलन ही इस वजह से आहत होता है, उसे नापसन्द किया जाता है, क्योंकि इसकी पैरवी करने वाले के पैर धरती पर नहीं टिके हैं।

हाल में ऐसे ही एक व्यक्ति ने मेरा विरोध किया। क्योंकि मैंने एक सात वर्षीय समस्यात्मक बच्चे को अपने दफ़्तर के दरवाज़ों को लतियाते देख ड़ाँटा था। उसका विचार यह था कि मुझे मुस्कुराकर तब तक वह शोर बर्दाशत करना चाहिए था जब तक दरवाज़ों को लतियाने की उसकी इच्छा शान्त न हो जाती। यह सच है कि मैंने सालों-साल समस्यात्मक बच्चों के ध्वंसात्मक आचरण को धैर्य से झेला है। पर यह मैंने उनके मनोचिकित्सक के रूप में किया था। एक साथ रहने वाले नागरिक के रूप में नहीं।

अगर कोई माँ यह सोचती है कि उसे उसके तीन साल के बच्चे को घर का दरवाज़ा लाल स्याही से इसलिए पोतने देना चाहिए क्योंकि वह स्वयं को मुक्त रूप से अभिव्यक्त कर रहा है, तो दरअसल वह स्वनिर्देशन का मतलब समझी ही नहीं है।

याद आता है कि एक बार मैं कवेन्ट गार्डन थियेटर में अपने दोस्त के साथ बैठा था। पहले बाले के दौरान हमारे सामने बैठी बच्ची अपने पिता से ज़ोर से बातें करती रही। नृत्य समाप्त हुआ और मैंने जगह बदल ली। मेरे साथी ने पूछा, “अगर समरहिल का कोई बच्चा यह करता, तो तुम क्या करते?”

“मैं उसे चुप रहने को कहता।”

“उसकी ज़रूरत न पड़ती,” मित्र ने कहा, “वह ऐसा आचरण ही नहीं करता।” और सच मुझे लगता है कि उनमें से कोई भी ऐसी हरकत नहीं करता।

एक मरतबा एक महिला अपनी सात वर्षीय बिटिया को लेकर मुझसे मिलने आई। “नील साहब,” वे बोलीं, “डैफने पैदा हुई उसके भी पहले मैंने आपकी लिखी एक-एक पंक्ति पढ़ी थी। मैं उसे आपके विचारों के अनुसार ही पालूँगी।”

मैंने डैफने की ओर देखा। वह मेरे पियानो पर अपने भारी जूतों के साथ चढ़ी हुई थीं। वहाँ से वह सोफे पर कूदी। “देखिए कितनी स्वाभाविक है मेरी बेटि,” माताजी बोलीं, “बिल्कुल एक नील-नुमा बच्ची!” मेरा चेहरा तमतमा उठा।

आज़ादी और उच्छृंखलता का यही अन्तर कई माता-पिता समझ ही नहीं पाते हैं। एक अनुशासित परिवार में बच्चों के कोई अधिकार नहीं होते। एक बिगाड़ने वाले परिवार में उन्हें सारे अधिकार होते हैं। सही परिवार वह है जहाँ बच्चों और वयस्कों में बराबर के अधिकार होते हैं। यही बात स्कूल पर भी लागू होती है।

इस बात पर बार-बार ज़ोर देना पड़ता है कि स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है कि बच्चों को पूरी तरह बिगाड़ दिया जाए। अगर कोई तीन साल का नन्हा या नन्ही

खाने की मेज़ पर चलना चाहे तो उसे यह सीधे और साफ तौर पर बताना चाहिए कि यह नहीं किया जा सकता। यह सच है कि उसे आज्ञा माननी होगी। पर इसी तरह आपको भी उसकी आज्ञा माननी होगी। जब छोटे बच्चे मुझे दफा करते हैं तो मैं फौरन उनके कमरे से बाहर निकल जाता हूँ।

अगर बच्चों को अपने आन्तरिक स्वभाव के अनुसार जीने देना है तो वयस्कों को कुछ त्याग करना ही होगा। स्वस्थ माता-पिता एक तरह का समझौता तलाश लेते हैं पर बीमार माता-पिता या तो हिंसक बन जाते हैं, या उन्हें बिगाड़ते हैं और उन्हें ही सारे के सारे सामाजिक अधिकार सौंप देते हैं।

माता-पिता और बच्चों के बीच जो फासला है वह दूर नहीं तो कम अवश्य किया जा सकता है। ज़ोई और मेरे बीच ईमानदार लेनदेन है। इस कारण वह मेरी मेज़ पर मेरा अधिकार स्वीकारती थी और मेरे टाइपराइटर से खेलने पर आमादा नहीं रहती थी। बदले में मैं उसके कमरे और उसके खिलौनों पर उसके अधिकार का सम्मान करता था। बच्चे बुद्धिमान होते हैं और जल्दी ही सामाजिक नियम समझने लगते हैं। उनका शोषण नहीं होना चाहिए जैसा अक्सर होता है। अक्सर जब बच्चा किसी खेल में मशगूल हो तो माता-पिता हाँक लगाते हैं,

“बेटे ज़रा एक गिलास पानी तो पकड़ना।”

बच्चों की शैतानी सही तरह से न निपटने से बढ़ती है। जब ज़ोई तकरीबन साल भर की थी तब वह एक ऐसे दौर से गुज़री जब उसकी रुचि मेरे चश्मे में थी। वह उसे देखने के लिए मेरे नाक पर से खींच लेती थी। मैं कोई प्रतिवाद न करता। शब्दों या दृष्टि से कोई नाराज़गी ज़ाहिर न करता। उसकी रुचि जल्दी ही खत्म हो गई और उसने बाद में मेरे चश्मे को कभी नहीं छुआ। अगर मैं उस समय डाँटता या पीटता तो उसकी जिज्ञासा लगातार बनी रहती साथ ही उसमें मेरे प्रति भय और विद्रोह पनपता।

मेरी पत्नी ज़ोई को टूटने वाली चीज़ों से खेलने देती थी। ज़ोई हमेशा सावधानी बरतती। बिरले ही उसके हाथों कोई चीज़ टूटी हो। उसने तमाम चीज़ों की खुद तहकीकात और छानबीन की।

ज़ाहिर है कि स्वनिर्देशन की भी सीमा है। हम छः माह के बच्चे को खुद यह तलाशने नहीं दे सकते हैं कि जलती हुई सिगरेट से हाथ जल सकते हैं। ऐसी स्थिति में शोर करना उचित नहीं है। बिना शोर-शराबे के बच्चे के सामने से खतरा हटा लिया जाना चाहिए।

बच्चा अगर मानसिक रूप से कमज़ोर न हो तो वह जल्दी ही वे चीज़ें तलाश लेता है जिसमें उसकी रुचि हो। अगर वह उत्तेजित चीख-पुकार और नाराज़ आवाज़ों

से मुक्त रहे तो हर तरह की सामग्री को आश्चर्यजनक सूझ-बूझ के साथ उठाता-धरता है। जो माँ चूल्हे के पास खड़ी चिन्ता से मर रही हो कि न जाने उसके बच्चे क्या कर रहे होंगे, उसने दरअसल अपने बच्चों पर कभी भरोसा नहीं किया है। “देखना नन्हा क्या कर रहा है, उससे कहना ऐसा नहीं करते।” ये शब्द आज भी तमाम घरों में दोहराए जाते हैं।

जब कोई माँ मुझे यह लिखती है कि जब वह रसोई में खाना बनाने में व्यस्त होती है तब उसके बच्चे बेहद धमा-चौकड़ी मचाते हैं। मेरा जवाब यही हो सकता है कि आपने उन्हें बड़ा ही ऐसे किया है।

एक दम्पति ने मेरी चन्द किताबें पढ़ीं और उनके मन में यह अपराधबोध जागा कि उन्होंने अपने बच्चों को जिस तरह से पाला-पोसा उससे न जाने उनको कितना नुकसान पहुँचाया होगा। सो तत्काल परिवार की बैठक की। बच्चों से कहा, “हमने तुम्हारा पालन-पोषण गलत तरीके से किया है। अब से तुम सब जो करना चाहो उसकी तुम्हें आज्ञादी है।” यह तो याद नहीं आ रहा कि उन्होंने इसके नतीजतन होने वाली टूटफूट की लागत क्या लिखी थी, पर तत्काल ही दूसरी बैठक बुलाई गई और पिछला निर्णय पलट दिया गया।

बच्चों की आज्ञादी के विरुद्ध जो तर्क सामान्यतः रखा जाता है, वह यह है: *जीवन बड़ा कठिन है। हमें बच्चों को शुरु से ही बाद के जीवन से समझौता करने के लिए तैयार करना चाहिए। इसलिए उन्हें अनुशासित करना चाहिए। अगर उन्हें अपनी इच्छा का करने की अनुमति दी गई तो वे बड़े होकर किसी बॉस के मातहत चाकरी कैसे कर सकेंगे? वे उन लोगों से स्पर्धा कैसे करेंगे, जिन्हें अनुशासन की आदत है? वे खुद पर आत्म-अनुशासन कैसे लागू कर सकेंगे?*

जो लोग बच्चों की आज्ञादी का विरोध इस तर्क से करते हैं वे यह नहीं समझते कि वे जिस मान्यता से शुरुआत कर रहे हैं, वह निराधार है, सिद्ध ही नहीं हुई है। वे यह मानकर चलते हैं कि अगर बच्चे पर बढ़ने या विकसित होने का दबाव न हो तो वह न बढ़ेगा न विकसित होगा। समरहिल का उंचालीस वर्षों का अनुभव इस मान्यता को गलत सिद्ध करता है। सैंकड़ों उदाहरणों में से एक मर्विन का ही उदाहरण लें। वह दस साल तक समरहिल में रहा। सात से सत्रह की उम्र तक। वह कभी कक्षा में उपस्थित ही न रहा। सत्रह साल की उम्र में भी ठीक से पढ़ना-लिखना तक नहीं जानता था। पर स्कूल छोड़ने के बाद मर्विन ने तय किया कि वह वाद्ययंत्र बनाने वाला बनना चाहता है। उसने खुद को पढ़ना सिखाया और कुछ ही समय में खुद-ब-खुद आवश्यक तकनीकी जानकारी पा ली। अपने प्रयासों से उसने खुद को प्रशिक्षु बनाने के लिए तैयार किया। आज वह पूर्णतः साक्षर है, अच्छा वेतन कमाता है और अपने समुदाय का नेता है। जहाँ तक स्व-अनुशासन

का सवाल है, उसने अपने मकान का काफी हिस्सा खुद अपने हाथों बनाया है, और अपनी मेहनत मज़दूरी से वह तीन बच्चों के परिवार को खुद पालता है।

इसी तरह हर साल समरहिल के कई लड़के-लड़कियाँ, जो उस वक्त तक पढ़ने में कोई रुचि नहीं लेते थे, खुद ही यह तय करते हैं कि उन्हें कॉलेज में दाखिल होने के लिए परीक्षाएँ देनी हैं। और तब वे इसके लिए मेहनत मशक्कत करते हैं। वे ऐसा क्योंकर करते हैं?

आम धारणा यह है कि अगर बचपन से ही अच्छी आदतें न सिखाई गईं तो बाद में जीवन भर वे हममें विकसित ही नहीं होंगी। हम इसी धारणा को लेकर बड़े हुए हैं और इसे बिना सवाल उठाए स्वीकारते हैं। इसलिए, क्योंकि किसी ने इसको चुनौती ही नहीं दी है। मैं इस धारणा से असहमत हूँ।

बच्चे के लिए आज़ादी इसलिए ज़रूरी है क्योंकि आज़ादी में ही वह स्वाभाविक तरीके से बढ़ता है - जो अच्छा तरीका है। मैं निजी स्कूलों से आए अपने नए छात्रों में बन्धन का नतीजा देखता हूँ। वे पाखण्ड, बनावटी, शिष्टता और आचरण से भरे होते हैं।

आज़ादी पाकर उनकी प्रतिक्रिया तुरन्त भड़कती है। बेहद थकाने वाली होती है। प्रारम्भिक एक-दो सप्ताह तक वे शिक्षकों के लिए दरवाज़े खोलते हैं, और मुझे 'सर' कहकर सम्बोधित करते हैं, बड़े साफ-सुथरे रहते हैं। मेरी ओर श्रद्धा से देखते हैं, उस दृष्टि में भय पहचाना जा सकता है। कुछ सप्ताह आज़ादी पाने पर वे अपने असली रूप में आ जाते हैं। वे उद्वण्ड, दुर्व्यवहारी और गन्दे बन जाते हैं। वे वह सब करते हैं जिसकी उन्हें पहले मनाही थी। वे गाली देते हैं, सिगरेट पीते हैं और खूब तोड़फोड़ करते हैं। और इस दौरान उनकी आँखों और आवाज़ों में वही विनम्र और बनावट भरा भाव झलकता है।

इस बनावटीपन से उबरने में उन्हें कम से कम छह महीने लगते हैं और तब से वे जिसे अधिकारी मानते रहे थे, उसके प्रति सम्मान त्याग देते हैं। छह महीने में वे ऐसे स्वाभाविक स्वस्थ बच्चे बन जाते हैं जो अपने विचार घबराहट या घृणा के बिना सामने रख सकें। जब बच्चा कम उम्र में आज़ादी से परिचित होता है तो उसे बनावटीपन का नाटक नहीं करना पड़ता। समरहिल की सबसे बड़ी खासियत है उसके छात्र-छात्राओं की पूर्ण निष्कपटता।

जीवन में, और जीवन के प्रति ईमानदार होना बेहद ज़रूरी है। दरअसल यही दुनिया का सबसे महत्वपूर्ण काम है। अगर आप में सच्चाई है तो दूसरी चीज़ें खुद-ब-खुद जुड़ती जाती हैं। मसलन अभिनय में ईमानदारी का मूल्य सब पहचानते हैं। हम अपने राजनेताओं से (मानव किस कदर आशावादी होता है), न्यायाधीशों

से, शिक्षकों और चिकित्सकों से ईमानदारी की अपेक्षा रखते हैं। पर हम बच्चों को इस तरह शिक्षित करते हैं कि वे ईमानदार होने की हिम्मत तक नहीं कर सकें।

समरहिल में सबसे बड़ा अनुसंधान कोई हुआ है तो वह यह कि बच्चा एक ईमानदार जीव के रूप में जन्मता है। हम उन्हें इसलिए आज़ाद छोड़ते हैं ताकि वे खुद यह तलाश सकें कि वे कैसे हैं। बच्चों को पालने का यही एक मात्र तरीका है। भावी स्कूलों को अगर बच्चों के विषय में अपना ज्ञान बढ़ाना है, अगर उनकी प्रसन्नता में इज़ाफा करना है, तो उन्हें यही रास्ता पकड़ना होगा।

जीवन का उद्देश्य है आनन्द। जीवन में जो कुछ इस आनन्द को सीमित या नष्ट करता है वह अनिष्टकारी है। आनन्द का अर्थ हमेशा अच्छाई ही होता है। अप्रसन्नता अपने चरम पर यहूदियों से घृणा, अल्पसंख्यकों को यातना या युद्ध का रूप लेती है।

मैं मानता हूँ कि कई बार ईमानदारी अटपटे क्षण पैदा करती है। हाल में एक तीन साल की लड़की ने एक दड़ियल मेहमान को देख कर कहा, “मुझे आपकी शक्ल पसन्द नहीं आ रही।” मेहमान ने माकूल जवाब दिया, “पर मुझे तुम्हारी शक्ल अच्छी लग रही है।” और वह बच्ची मुस्करा दी।

पर मैं बच्चों की आज़ादी की बहस नहीं करूँगा। किसी भी आज़ाद बच्चे के साथ आज घण्टा बिताना, तर्कों से भरी एक किताब से कहीं बेहतर है। देखने से ही विश्वास होता है।

बच्चों को आज़ादी देना आसान नहीं है। इसका मतलब है हम उन्हें धर्म, राजनीति या वर्ग चेतना के बारे में कुछ न सिखाएँ। जब बच्चा अपने पिता को किसी राजनीतिक दल के प्रति या माँ को नौकरी के प्रति भड़ास निकालते सुनता है तो बच्चे को वास्तविक आज़ादी नहीं मिलती। यह असम्भव है कि हम अपने बच्चों को जीवन के प्रति हमारे नज़रिए को अपनाने से रोक सकें। एक कसाई का बेटा शायद ही कभी शाकाहार का प्रचारक बने, जब तक कि उसके पिता की सत्ता का विद्रोह ही उसे दूसरे खेमे में न खदेड़ दे।

समाज की प्रकृति ही आज़ादी के प्रतिकूल होती है। समाज या भीड़ हमेशा ही रूढ़िवादी होती है और नए विचारों से घृणा करती है।

फैशन, इस कथन को चरितार्थ करता है कि भीड़ को आज़ादी नापसन्द है। भीड़ समानता की माँग करती है। हमारे कस्बे के लोग मुझे सिरफिरा कहते हैं क्योंकि मैं सैण्डल पहने घूमता हूँ। गाँव में अगर मैं लम्बा टोप पहनकर निकलूँ तो लोग मुझे सिरफिरा कहेंगे। यही कारण है कि जो कुछ सही माना जाता है उस लीक से हटने की ज़रूरत कम ही लोग कर पाते हैं।

इंग्लैण्ड का एक नियम है - भीड़ का नियम - जो रात आठ बजे के बाद सिगरेट की बिक्री निषिद्ध करता है। मैं एक भी ऐसे इन्सान को नहीं जानता जो इस कानून को पसन्द करता हो। पर हम व्यक्तिगत स्तर पर भीड़ के निहायत बेवकूफी भरे फैसले भी स्वीकारते चलते हैं।

बिरले ही व्यक्ति होंगे जो किसी हत्यारे को फाँसी या अपराधी को आजीवन कारावास की सज़ा सुनाना पसन्द करें। पर भीड़ के रूप में फाँसी या आजीवन कारावास हमारी आत्मा को नहीं कचोटता। भीड़ के लिए अपराधी खतरनाक हैं, उनसे बचाव का सबसे आसान तरीका है अपराधी को मार डालना या बन्दी बना देना। हमारी पुरातनपंथी दण्ड संहिता मूलतः भय पर आधारित है। और हमारी दमनकारी शिक्षा व्यवस्था भी भय पर ही आधारित है। यह भय है नई पीढ़ी का।

सर मार्टिन कॉनवे ने अपनी आनन्ददायक पुस्तक *द क्राउड इन पीस एण्ड वॉर* में लिखा है कि भीड़ को बड़े-बूढ़े पसन्द हैं। युद्ध के समय भीड़ हमेशा वृद्ध सेनानायकों को चुनती है और शान्ति में वृद्ध चिकित्सकों को। भीड़ वृद्धों से इसलिए चिपकती है क्योंकि वह युवाओं से डरती है।

भीड़ की आत्मरक्षा की सहज भावना नई पीढ़ी में खतरा देखती है। उसे इस बात का डर रहता है कि उसकी स्पर्धा में एक नई भीड़ न पनप जाए। ऐसी भीड़ जो पुरानी भीड़ का खात्मा कर दे। भीड़ के सबसे छोटे रूप, परिवार में भी इसी कारण आज्ञादी नहीं दी जाती। वयस्क पुराने मूल्यों - पुराने *भावनात्मक* मूल्यों से चिपके रहते हैं। इस बात का कोई तार्किक आधार नहीं है कि कोई पिता अपनी बीस वर्षीया बेटी को सिगरेट पीने से रोके। यह निषेध भावनात्मक स्रोत से उपजता है, रूढ़िवादिता से उपजता है। निषेध के पीछे दरअसल भय है। *वह आगे क्या करेगी?* भीड़ नैतिकता की ठेकेदार है। वयस्क युवाओं को आज्ञादी इसलिए नहीं देता क्योंकि वह डरता है कि युवक-युवतियाँ वह सब करेंगे जो वह स्वयं युवावस्था में करना चाहता था। बच्चों पर लगातार वयस्कों के विचार लादना बाल्यावस्था के विरुद्ध भारी पाप है।

आज्ञादी देने का अर्थ है बच्चे को उसकी ज़िन्दगी जीने देना। यूँ कहने से बात कितनी आसान लगती है। पर सिखाने, गढ़ने, भाषण देने और दबाव डालने की हमारी अनर्थकारी आदत हमें सच्ची आज्ञादी की सहजता का अहसास तक नहीं होने देती।

आज्ञादी के प्रति बच्चों की क्या प्रतिक्रिया होती है? चतुर बच्चे और वे बच्चे जो इतने चतुर न हों, वह पाते हैं जो उन्हें पहले मिली ही न थी। ऐसा कुछ, जो परिभाषित तक न किया जा सके। इसका मुख्य बाहरी लक्षण यह होता है कि उनमें ईमानदारी और औदार्य बढ़ता है। उनमें दूसरों के प्रति आक्रामकता घटती है। जब

बच्चे अनुशासन के भय के साये में नहीं होते तो वे आक्रामक नहीं रहते। समरहिल के उंचालीस सालों में मैंने एक ही झगड़ा देखा था जिसमें किसी के नाक से खून बहा। हमारे यहाँ भी हमेशा ही एक छोटा-मोटा दादा ज़रूर होता है, क्योंकि स्कूल में दी गई प्रचुर आज्ञादी भी एक खराब परिवार के प्रभाव खत्म नहीं कर सकती। जीवन के प्रारम्भिक महीनों या सालों में जो चरित्र गठन होता है, उसे आज्ञादी से कुछ ढाला तो जा सकता है, पर पूरी तरह बदला नहीं जा सकता। आज्ञादी का सबसे बड़ा दुश्मन है भय। यदि हम बच्चों को सेक्स के बारे में बताते हैं तो क्या वो दुराचारी नहीं बन जाएँगे? अगर नाटकों को सेंसर न करें तो क्या लोग अनैतिक बन जाएँगे?

जो वयस्क डरते हैं कि युवक भ्रष्ट हो जाएँगे वे खुद ही भ्रष्ट होते हैं। उसी तरह जैसे गन्दे दिमाग वाले यह मांग करते हैं कि सभी श्लील स्वीमिंग कॉस्ट्यूम पहनें। व्यक्ति उसी चीज़ से अचम्भित रह जाता है जिसमें स्वयं उसकी रुचि होती है। सेक्स से दूरी बरतने वाले लोग एक व्यसनी की तरह होते हैं जो अपने गिरेबान में झांकने की हिम्मत नहीं रखते।

स्वतंत्रता का अर्थ है अज्ञानता पर विजय पाना। मुक्त लोग वही हैं जिन्हें नाटक सेंसर करने की ज़रूरत महसूस नहीं होती। अचम्भित करने वाली चीज़ों में उनकी रुचि नहीं रहती क्योंकि मुक्त लोग अचम्भित हो ही नहीं सकते। समरहिल के छात्र ऐसे ही हैं - इसलिए नहीं कि वे पाप करने में माहिर हैं - बल्कि इसलिए कि उन्होंने अचम्भित करने वाली चीज़ों का शौक पूरा कर लिया है और अब वे उसे बातचीत या हंसी मज़ाक तक का विषय नहीं समझते।

लोग मुझसे पूछते हैं, “आपके आज्ञाद बच्चे जीवन की नीरसता से समझौता कैसे करेंगे?” मेरी आशा है कि वे जीवन से नीरसता को हटाने में अग्रणी सिद्ध होंगे।

हमें बच्चों को स्वार्थी बनने की छूट देनी होगी - ऐसा बनने देना होगा, जो कुछ देता न हो। बचपन भर अपनी बचकानी रुचियों के पीछे भागने की अनुमति देनी होगी। जब उसकी व्यक्तिगत रुचियाँ और सामाजिक रुचियाँ टकराएँ, तो उसकी व्यक्तिगत रुचियों को प्राथमिकता देनी होगी। समरहिल का समग्र विचार मुक्ति का है। जहाँ बच्चा अपनी स्वाभाविक रुचियों को जी सके।

स्कूल को दरअसल बच्चे की ज़िन्दगी को ही खेल बना देना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि उसकी राह फूलों से पटी हुई बना दी जाएँ। सब कुछ आसान बनाना उसके चरित्र के लिए खतरनाक होगा। दरअसल जीवन खुद-ब-खुद इतनी कठिनाइयाँ पेश करता है कि हमारे द्वारा बनाई गई कृत्रिम कठिनाइयाँ बिल्कुल अनावश्यक हैं।

मैं मानता हूँ कि सत्ता के माध्यम से कुछ भी थोपना गलत है। बच्चे को तब तक कुछ नहीं करना चाहिए जब तक उसे करने की राय वह खुद न बना ले। मानवता का श्राप, बाहरी दबाव, फिर चाहे वह किसी धर्मगुरु, राज्य, शिक्षक या माता-पिता द्वारा ही क्यों न डाला गया हो, यही अपनी समग्रता में फासीवाद है।

अधिकतर लोग चाहते हैं कि एक ईश्वर हो। यह स्थिति इससे भिन्न हो भी नहीं सकती, जब घर में मिट्टी के 'देवी-देवता' विराजे हों, जो सम्पूर्ण सच और नैतिक आचरण की माँग करते हों। आज्ञादी का मतलब है वह करना जो व्यक्ति खुद चाहे। पर केवल उस सीमा तक जहाँ वह दूसरों की आज्ञादी में खलल न डाले। इस संतुलन का परिणाम होता है स्व-अनुशासन।

हमारी राष्ट्रीय शिक्षा नीति में हम दूसरों को चैन से जीने नहीं देते। हम भय के सहारे सबकी सहमति ले लेते हैं। पर बच्चे को पत्थर फेंकने से रोकने और लैटिन भाषा सीखने पर बाध्य करने में अन्तर है। पत्थर फेंकने में दूसरे लोग भी होते हैं, जिन्हें चोट पहुँच सकती है। पर लैटिन सीखने में सिर्फ बच्चा ही होता है। किसी असामाजिक लड़के के मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार समुदाय को है। पर किसी को लैटिन सीखने पर बाध्य करने का नहीं। क्योंकि लैटिन सीखना निहायत व्यक्तिगत मामला है। बच्चे को सीखने पर बाध्य करना ठीक वैसा होगा मानो एक संसदीय कानून द्वारा किसी पर कोई धर्म अपनाने का दबाव डाला जाए। सच तो यह है कि यह उतना ही बेवकूफी भरा कृत्य भी है।

मैंने छुटपन में लैटिन सीखी। बल्कि कहूँ कि मुझे किताबें दी गईं जिससे मैं लैटिन सीखूँ। पर लड़कपन में मेरी रुचियाँ दूसरी थीं। मैं लैटिन नहीं सीख पाया। इक्कीस वर्ष की आयु में मुझे पता चला कि लैटिन सीखे बिना विश्वविद्यालय में दाखिला नहीं होगा। प्रवेश परीक्षा लायक लैटिन मैंने साल भर के अन्दर सीख ली। मेरी रुचि ने मुझे लैटिन सिखाई।

प्रत्येक बच्चे को ऐसे कपड़े पहनने का अधिकार है जिन्हें वह जितना चाहे गन्दा करे। हर बच्चे को अभिव्यक्ति का अधिकार है। मैंने सालों किशोर - किशोरियों के मुँह से उन गालियों को सुनते गुज़ारे हैं जो उन्हें बचपन में नहीं देने दी गईं।

जिस यौन नफरत और भय के साथ करोड़ों लोग पलते-बढ़ते हैं उससे यह आश्चर्य ही हो सकता है कि दुनिया मानसिक रूप से और बीमार क्यों नहीं है। मेरे लिए इसका अर्थ है कि प्राकृतिक मानवता में ऐसी आन्तरिक ताकत है कि वह बाहर से लादी गई तमाम बुराइयों पर काबू कर सके।

हम धीमे-धीमे आज्ञादी - यौन सम्बंधी व अन्य - की ओर बढ़ रहे हैं। मेरे बचपन में महिलाएँ लम्बे मोजे और पूरे कपड़े पहनकर ही नहा सकती थीं। आजकल वे

अपने शरीर का प्रदर्शन कर सकती हैं। हर पीढ़ी के साथ बच्चों को अधिक आज़ादी मिल रही है। आज ऐसे चन्द ही पागल होंगे जो बच्चे को अँगूठा चूसने से रोकने के वास्ते मिर्च का लेप लगाएँ। कुछ ही देश ऐसे होंगे जहाँ बच्चों को अब भी स्कूलों में पीटा जाता है।

आज़ादी का असर धीमे होता है। कई बार इसे समझने में बच्चों को सालों लग जाते हैं। जो तात्कालिक परिणाम की अपेक्षा करते हैं वे लाइलाज आशावादी होते हैं। आज़ादी चतुर बच्चों के लिए सबसे अच्छी सिद्ध होती है। काश मैं यह कह पाता कि चूँकि आज़ादी मूलतः भावनाओं को छूती है, इसलिए सभी बच्चे - कुशाग्र और मंद - दोनों की प्रतिक्रिया समान होती है। पर यह मैं कह नहीं सकता।

यह बात पढ़ाई के विषय में साफ नज़र आती है। वैसे तो सभी आज़ाद बच्चे साल भर अपना अधिकांश समय खेलने में बिताते हैं। पर समय आने पर जो चतुर हैं वे सरकारी परीक्षाओं के विभिन्न विषयों से निपटने की तैयारी भी कर लेते हैं। जिस पढ़ाई को अनुशासित बच्चे आठ साल में करते हैं, वही पढ़ाई, वह एक आज़ाद लड़का या लड़की दो साल या उससे कुछ अधिक में पूरी कर लेता है।

रूढ़िवादी शिक्षक मानते हैं कि परीक्षा तभी पास की जा सकती है जब परीक्षार्थी लगातार भिड़ा रहे। हमारे परीक्षा परिणाम सिद्ध करते हैं कि चतुर बच्चों के सन्दर्भ में यह बात भ्रामक है। आज़ादी के वातावरण में, जहाँ तमाम विरोधी आकर्षण मौजूद हों, बुद्धिमान बच्चे ही जमकर पढ़ाई कर सकते हैं।

मैं जानता हूँ कि अनुशासन के तहत कमज़ोर छात्र-छात्राएँ भी परीक्षाएँ पास कर लेते हैं। पर उनका बाद में क्या हश्र होता होगा यह शायद किसी को न पता हो। अगर सभी स्कूल मुक्त हों और सभी विषयों को पढ़ना ऐच्छिक हो, तो मेरा विश्वास है कि बच्चे स्वयं अपना स्तर तलाश लेंगे।

एक सताई हुई माँ की आवाज़ मैं सुन सकता हूँ, जो खाना पकाने में लगी है और उसकी नन्हीं घुटनों के बल रेंगती हुई चौतरफ़ फैलावड़ा कर रही है। वह खीझ से पूछ सकती है, “यह आत्म-अनुशासन कौन सी बला है? एक अमीर माँ जिसके पास नौकर चाकर हों उसके लिए ठीक होगा। पर मेरी जैसी साधारण औरत के लिए यह केवल शब्द और भ्रम-जाल है।”

पर कोई दूसरी माँ शायद यह कहे, “हाँ मैं आज़ादी देना चाहती हूँ पर शुरू कहाँ से करूँ। मैं इस पर कौन सी किताबें पढ़ूँ?”

जवाब यह है कि इसकी कोई किताबें नहीं हैं, कोई वेदवाक्य नहीं हैं, कोई शास्त्री नहीं है। बस चन्द माता-पिता, चिकित्सकों और शिक्षकों का अल्पसंख्यक समुदाय है। जिसे हम बालक कहते हैं उसके चरित्र में इन लोगों का विश्वास है। वे

कृतसंकल्प हैं कि वे गलत हस्तक्षेपों द्वारा उसके चरित्र को बाँधने या शरीर को जड़ बनाने का विरोध करेंगे। हम सब मानवता के ऐसे सत्यशोधक हैं जो तानाशाही पसन्द नहीं करते। हमारे इस विश्वास के प्रमाण के नाम पर आज्ञादी में जी रहे बच्चों के अवलोकन ही हैं, जो हम दे सकते हैं।

प्रेम और अनुमोदन

बच्चों की खुशी और उनकी खुशहाली उन्हें दिए गए प्रेम और अनुमोदन पर निर्भर करती है। हमें बच्चों के पक्ष में होना होगा। उनके पक्ष में होने का मतलब है उन्हें प्रेम देना। मालिकाना प्रेम नहीं, भावुकता भरा प्रेम भी नहीं। बस हमारा व्यवहार ऐसा हो जिससे बच्चे को पता चले कि हम उसे प्यार करते हैं, उसका अनुमोदन करते हैं।

ऐसा करना सम्भव है। मैं दर्जनों माता-पिता को जानता हूँ जो बच्चों के पक्ष में हैं। जो बदले में कुछ नहीं चाहते और इसलिए ही बहुत कुछ पाते हैं। वे समझते हैं कि बच्चे नन्हें वयस्क नहीं होते।

जब कोई बेटा घर में चिट्ठी लिखता है - ‘प्यारी माँ मुझे पचास रुपए भेजो। आशा है तुम ठीक होगी। पापा को प्यार देना।’ अगर बच्चा ईमानदार हो और खुद को अभिव्यक्त करने से डरता न हो तो माँ मुस्कुराती है। क्योंकि वह जानती है कि दस साल का बच्चा ऐसी ही चिट्ठी लिख सकता है। जो गलत तरह के माता-पिता हैं वे कहेंगे, “देखो, यह जानवर सिर्फ अपने स्वार्थ के बारे में सोच सकता है। हमेशा कुछ न कुछ चीज़ की माँग करता रहता है।”

मेरे स्कूल के अच्छे माता-पिता कभी भी अपने बच्चों का हालचाल नहीं पूछते। वे स्वयं आकर पता करते हैं। बुरे पालक हमेशा उतावले सवाल करते रहते हैं। *क्या वो अब पढ़ सकता है? वो कब साफ सुथरा रहना सीखेगा? क्या वो कक्षा में जाती है?*

यह दरअसल बच्चों पर विश्वास करने की बात है। कुछ करते हैं; ज़्यादातर नहीं। बच्चे इस अविश्वास को तुरन्त महसूस कर लेते हैं। वो समझ जाते हैं यह सतही प्यार है अन्यथा उनपर विश्वास किया जाता। जब बच्चों का अनुमोदन किया जाता है तो उनसे किसी भी विषय पर बात की जा सकती है क्योंकि अनुमोदन संकोचों को हवा कर देता है।

लेकिन सवाल उठता है कि क्या बच्चों का अनुमोदन सम्भव है, जब हम खुदी को अनुमोदित नहीं कर पाते हैं? यदि आप अपने बारे में जागरूक नहीं हैं तो आप खुद का अनुमोदन नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में यह कि आप स्वयं अपने और

अपनी मंशाओं के प्रति जितना सचेत होते हैं, खुद को अनुमोदित करने की सम्भावना उतनी ही ज़्यादा होती है।

मेरी दिली इच्छा है कि पालक अपने और अपने बच्चों के स्वभाव के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा ज्ञान रखें। तभी वे अपने बच्चों को मानसिक तनावों से दूर रख पाएंगे। मैं ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि पालक अपने बच्चों पर पुराने और रूढ़िवादी विचार, आचरण तथा नैतिक मूल्य ज़बरदस्ती लाद कर उन्हें बिगाड़ रहे हैं। वे अपने बच्चों को बीते समय की वेदी पर बली चढ़ा रहे हैं। यह खास तौर पर उन पालकों के संदर्भ में सही ठहरता है जो अपने बच्चों पर आज्ञाकारी धर्म थोपते हैं। ठीक वैसे ही जैसे कभी उनपर थोपा गया था।

मैं जानता हूँ कि अहम चीज़ों को त्यागना सबसे मुश्किल काम है। लेकिन इसी त्याग से ही हम जीवन, तरक्की और खुशी खोज पाते हैं। पालकों के लिए त्याग ज़रूरी है। उस नफरत का त्याग जो आलोचना और अधिकार का रूप धर लेती है।

उस असहनशीलता का त्याग जो भय से उपजती है। जीर्ण नैतिकी और भीड़ के निर्णयों का त्याग। सरल शब्दों में पालकों का इंसान बनना ज़रूरी है। उन्हें यह समझना चाहिए कि वो कौन हैं और कहाँ खड़े हैं। यह आसान नहीं है। क्योंकि व्यक्ति आखिर खुद ही नहीं होता। वह जितने लोगों से मिलता है उन सबका मिश्रित रूप होता है। वह उनके कई मूल्य अपना लेता है। माता-पिता अपने माता-पिता की सत्ता बच्चों पर लादते हैं क्योंकि हर पुरुष में उसका पिता और हर स्त्री में उसकी माँ बसती है। यह कठोर सत्ता ही नफरत उपजाती है और साथ लाती है समस्यात्मक बच्चे। यह बच्चों के अनुमोदन के ठीक विपरीत है।

कुछ किशोरियों ने मुझसे कहा है, “मैं अपनी माँ को खुश करने के लिए कुछ नहीं कर सकती। वह सब कुछ मुझसे बेहतर करती है। सिलाई या बुनाई में गलती हुई तो वह नाराज़ हो जाती है।”

बच्चों को शिक्षण की उतनी दरकार नहीं जितनी प्यार व समझ की है। उन्हें स्वाभाविक रूप से अच्छे बने रहने के लिए अनुमोदन और आज्ञादी दरकार है। जो सच में मजबूत और स्नेही माता-पिता होते हैं उनमें ही बच्चों को अच्छे बनने की आज्ञादी देने की ताकत होती है।

दुनिया अति-निन्दा से त्रस्त है। दरअसल यही बात सीधे-सीधे कही जा सकती है कि दुनिया नफरत से त्रस्त है। माता-पिता की नफरत बच्चों को एक समस्या में बदल देती है। ठीक उसी तरह जैसे समाज की घृणा एक अपराधी को समस्या में बदल देती है। छुटकारा प्रेम में निहित है, पर कठिनाई यह है कि प्रेम को कोई बाध्य नहीं कर सकता।

समस्यात्मक बच्चे के माता-पिता को बैठकर खुद से ये सवाल पूछना चाहिए: *क्या मैंने बच्चे को वास्तविक अनुमोदन दिया है? क्या मैंने उसमें विश्वास दर्शाया है? क्या मैंने उसके प्रति समझ जताई है?* मैं सिद्धान्त नहीं बखान रहा। मैं जानता हूँ कि कोई समस्यात्मक बच्चा हमारे स्कूल में आकर एक प्रसन्न और सामान्य बच्चा बन सकता है। इस इलाज प्रक्रिया की तह में है बच्चे को अनुमोदन देना, उस पर भरोसा करना, उसे समझना।

अनुमोदन की जितनी ज़रूरत समस्यात्मक बच्चों को होती है उतनी ही सामान्य बच्चों को भी होती है। जिस धर्मादेश का पालन हरेक माता-पिता और शिक्षक को करना चाहिए वह है - *तू हमेशा बच्चों के पक्ष में होगा।* यही धर्मादेश समरहिल को एक सफल स्कूल बनाता है। हम निश्चित रूप से बच्चे के पक्ष में हैं और बच्चा यह बात अवचेतन रूप से समझता है।

मैं यह नहीं कहता कि हम फरिश्तों की टोली हैं। ऐसे भी मौके आते हैं जब हम नाराज़ होकर चीखते-चिल्लाते हैं। अगर मैं दरवाज़ा रंग रहा होऊँ और रॉबर्ट आकर गीले रंग पर मिट्टी उछाल जाए तो मैं ज़रूर नाराज़ होऊँगा। और क्योंकि वह एक अर्से से हमारे साथ है, मेरी नाराज़गी उसे डराएगी नहीं। पर अगर रॉबर्ट किसी घृणास्पद स्कूल से ताज़ा-ताज़ा आया हो और मिट्टी उछालना उसके लिए सत्ता से लड़ने का प्रतीक हो, तो मैं भी उसके साथ मिलकर मिट्टी उछालूँगा। क्योंकि उसका बचाव दरवाज़ों के बचाव से अधिक महत्वपूर्ण है। मैं जानता हूँ कि जब तक वह अन्दरूनी नफरत निकाल नहीं लेता मुझे उसके पक्ष में ही होना चाहिए, ताकि वह फिर से दोस्ताना व्यवहार अपना सके। यह काम आसान नहीं है। मैंने एक लड़के को मेरी कीमती खराद पर गुस्सा निकालते देखा है। पर मैं चुप रहा। क्योंकि मैं जानता था कि अगर उस समय मैं प्रतिवाद करता तो वह मुझे अपने पिता के रूप में देखने लगता, जो उसे हमेशा औज़ारों को छूने पर पिटाई की धमकी देता था।

मज़े की बात यह है कि कई बार डॉटने-फटकारने के बावजूद आप बच्चे के पक्ष में हो सकते हैं। क्योंकि अगर आप उसके पक्ष में हैं तो उसे इस बात का अहसास होता है। आलुओं या औज़ारों को लेकर छोटा-मोटा मतभेद उस मूल सम्बंध को नहीं तोड़ता। जब बच्चे के साथ व्यवहार में आप सत्ता या नैतिकता को नहीं लाते हों तो बच्चे यह समझ पाते हैं कि आप उसके पक्ष में हैं। क्योंकि इससे पहले की ज़िन्दगी में सत्ता और नैतिकता ही वे चौकीदार थे जो लगातार उसकी गतिविधियों को बाधित करते थे।

जब कोई आठ साल की बच्ची मेरे पास से यह कहते हुए गुज़रती है 'नील बड़ा बेफकूफ है।' मैं जानता हूँ कि यह मेरे प्रति प्रेम दर्शाने का एक नकारात्मक तरीका है। वह मुझे यह जताती है कि वह मुझे लेकर सहज है। बच्चे उतना प्यार नहीं

देते, जितना वे स्वयं चाहते हैं। हरेक बच्चे के लिए बड़ों का अनुमोदन ही प्यार है और उनकी नापसन्दगी नफरत। बच्चे समरहिल के शिक्षकों को भी उसी नज़ारिए से देखते हैं, जिससे मुझे। बच्चों को यह अहसास हमेशा रहता है कि शिक्षक उनके पक्ष में हैं।

मैंने मुक्त बच्चों की ईमानदारी का पहले भी उल्लेख किया है। यह ईमानदारी अनुमोदन का नतीजा है। उनके पास कृत्रिम आचरण के कोई मानदण्ड नहीं होते जिन्हें उन्हें अपनी ज़िन्दगी में उतारना हो। कोई प्रतिबंध नहीं होते जो उन्हें जकड़े। उन्हें ज़िन्दगी को झूठ के रूप में जीने की कोई ज़रूरत नहीं होती।

नए छात्र, जिन्हें दूसरे स्कूलों में सत्ता के प्रति श्रद्धा सिखाई गई हो, मुझे 'सर' कह कर सम्बोधित करते हैं। पर जब उन्हें पता चल जाता है कि मैं सत्ता का प्रतीक नहीं हूँ, वे 'सर' कहना बन्द कर देते हैं और मुझे नील कहने लगते हैं। वे व्यक्तिगत स्तर पर मुझ से अनुमोदन नहीं चाहते। वे पूरे स्कूल समुदाय का अनुमोदन चाहते हैं। जब पुराने दिनों में मैं स्कॉटलैण्ड के गाँव में स्कूलमास्टर था, कई बच्चे कक्षाओं के बाद कमरे की सफाई में, झाड़ियों की बाड़ या बागड़ को काटने में मेरी मदद करते थे। यह सब ईमानदारी से नहीं किया जाता था। यह किया जाता था मुझसे अनुमोदन और प्रशंसा पाने के लिए क्योंकि मैं बाँस था।

समरहिल का कोई बच्चा मेरी प्रशंसा पाने के लिए कुछ नहीं करता है, यद्यपि लड़के-लड़कियों को खरपतवार निकालते देखकर बाहर से आए मेहमान यही सोचते हैं। उस काम को करने की प्रेरणा का मुझसे व्यक्तिशः कोई लेना-देना नहीं होता। इस घटना के समय बच्चे इसलिए खरपतवार निकाल रहे थे क्योंकि आम सभा में तय किया गया था कि बारह साल से बड़े सभी बच्चे सप्ताह में दो घण्टे बाग में काम करेंगे। बाद में यह नियम उन्होंने वापस भी ले लिया।

फिर भी किसी भी समाज में प्रशंसा पाने की एक स्वाभाविक इच्छा होती है। अपराधी वह व्यक्ति होता है जो समाज के अधिकांश लोगों की प्रशंसा पाने की इच्छा को खो देता है। या फिर उसे उसकी उलट दिशा में बदलने पर बाध्य हो जाता है - यानी समाज के प्रति तिरस्कार। अपराधी हमेशा एक नम्बर का अहंकारी होता है। मैं रातों रात अमीर बनना चाहता हूँ और दुनिया जाए भाड़ में। जेल की सज़ा उसके अहम् के लिए बख़्तर का काम करती है। वह इससे अकेला पड़ जाता है। खुद के बारे में, बेरहम समाज के बारे में सोचता है, जिसने उसे सज़ा दी है। सज़ाएँ और बंदीगृह किसी अपराधी को नहीं सुधार सकते हैं क्योंकि वे उसके लिए समाज की नफरत का सबूत हैं। समाज वे मौके ही समाप्त कर देता है जिनके ज़रिए वह फिर से सामाजिक बन सके, दूसरों की प्रशंसा पा सके। कैद करने की यह पागल व अमानवीय व्यवस्था ही निरर्थक है क्योंकि वह बंदी की मानसिकता को छू तक नहीं पाती।

इसलिए मैं कहता हूँ कि किसी भी सुधारक स्कूल में पहली ज़रूरत है सामाजिक अनुमोदन पाने का अवसर। जब तक बच्चों को निरीक्षक को सलाम ठोकना होगा, सेना जैसी कतारों में खड़े रहना होगा, सुप्रिन्टेंडेंट के कमरे में घुसते ही उछलकर खड़े होना होगा, तब तक वास्तविक आज़ादी नहीं होगी। अर्थात् सामाजिक अनुमोदन पाने का अवसर भी नहीं होगा। होमर लेन ने पाया था कि जब भी कोई नया लड़का *लिटिल कॉमनवैल्थ* में आता तो वह दूसरों की प्रशंसा पाने के लिए उन्हीं तकनीकों को काम में लाता जो वह अपनी बस्ती की गलियों में इस्तेमाल करता रहा था। वह अपने कारनामों की डींगें हाँकता, दुकानों से वह किस सफाई से चीज़ें उड़ाता यह बताता, पुलिस को कैसे चकमा देता था इसकी गाथाएँ सुनाता। पर जब उसे पता लगता कि युवक प्रशंसा पाने के इस तरीके से उबर चुके हैं, तो वह हतप्रभ रह जाता। वह अपने नए साथियों को 'जनानियाँ' कह कर कमतर सिद्ध करने की कोशिश करता। पर क्रमशः प्रशंसा पाने की स्वाभाविक वृत्ति उसे साथियों की प्रशंसा पाने पर बाध्य करती और तब लेन द्वारा व्यक्तिगत मनोविश्लेषण के बिना ही वह खुद को अपने नए साथियों के अनुरूप ढालने लगता। चन्द महीनों में वह एक सामाजिक जीव बन चुका होता था।

साधारण, शालीन, संवेदनशील पति को भी मैं सम्बोधित करना चाहता हूँ जो हर शाम साढ़े पाँच की ट्रेन से घर लौटता है।

मैं तुम्हें जानता हूँ जॉन ब्राउन। मैं जानता हूँ कि तुम अपने बच्चों से प्यार करना चाहते हो, बच्चों का प्यार चाहते हो। जब रात दो बजे तुम्हारा पाँच साल का नन्हा अकारण ही रो-रोकर जगा देता है, तो उस पल तुम्हारे मन में खास प्रेम नहीं उमड़ता। पर याद रखना कि उसके रोने का कोई कारण ज़रूर है, चाहे वह कारण तुम्हें उस वक्त पता न चले। अगर तुम्हें गुस्सा आ रहा है, तो कोशिश करो कि तुम उसे न जताओ। पुरुष की आवाज़ बच्चे के लिए स्त्री की आवाज़ की तुलना में ज़्यादा डरावनी होती है। तुम जान भी नहीं सकोगे कि गलत समय उठी एक नाराज़ आवाज़ शिशु के मन में ताउम्र के लिए कौन से भय बसा जाएगी।

माता-पिता को दिए गए निर्देशों वाला पैम्पलेट कहता है, 'बच्चे को बिस्तर में साथ लेकर मत सोओ।' इस निर्देश को भूल जाओ। नन्हे को जितना चिपटा दुलरा सको, दुलार करो। दूसरों के सामने प्रदर्शन के लिए अपने बच्चे का इस्तेमाल मत करो। उसकी प्रशंसा और आलोचना दोनों में सावधानी बरतो। उसकी मौजूदगी में उसका गुणगान सही नहीं है। *जी हाँ, केटी बढिया कर रही है! पिछली बार अपनी कक्षा में अक्ल रही थी। बड़ी चतुर है, हमारी केटी।* कहने का मतलब यह नहीं कि बच्चे की तारीफ ही नहीं करनी चाहिए। बच्चे से ज़रूर कहें *तुमने जो पतंग बनाई, वह बहुत बढिया है।* पर किसी मेहमान के सामने कुछ सिद्ध करने के लिए की गई प्रशंसा गलत है। जब हर ओर प्रशंसा तैरती है तो बत्खें भी खुद को हंस

मानने लगती हैं। बच्चा खुद के बारे में अवास्तविक बन जाता है। सच्चाई से दूर भागने में, बच्चे की मदद मत करो। दूसरी ओर अगर बच्चा फेल होता है, तो यह बात बार-बार दोहराकर उसे ज़लील मत करो। स्कूल की रिपोर्ट में नम्बर कम हों तो उसे मत फटकारो। और अगर आपका बिली पिटकर रोता हुआ लौटे तो उसे नामर्द मत कहो।

अगर तुम यह कहते हो, *जब मैं छोटा था...* तो तुम एक भारी गलती कर रहे हो। संक्षेप में तुम्हें अपने बच्चे को वह जैसा है, उसी रूप में स्वीकारना है। उसे अपना प्रतिबिम्ब बनाने की कोशिश बेकार है।

घर और जीवन में मेरा एक ही उसूल है। वह यह कि *ईश्वर के लिए दूसरों को उनकी ज़िन्दगी जीने दो।* यह दृष्टिकोण हरेक स्थिति में अपना ज़रूरी है।

यही अकेला नज़रिया है जो सहिष्णुता पनपाता है। आश्चर्य है कि इससे पहले मुझे *सहिष्णुता* शब्द ही नहीं सूझा था। एक मुक्त शाला के लिए यह शब्द बिलकुल सही है। हम बच्चों के प्रति सहनशीलता जताकर उन्हें सहिष्णु बना रहे हैं।

भय

मैंने अपना काफी समय उन बच्चों की मरहम-पट्टी में बिताया है जो दूसरों द्वारा आहत हुए हैं। जिनके मन में भय बैठाया गया है। बच्चे के जीवन में भय एक भयानक चीज़ है जिसे जड़ से हटाना चाहिए। बड़ों का भय, नापसन्दगी का भय, सज़ा का भय, भगवान का खौफ़। भय के माहौल में केवल नफरत पनपती है।

हम तमाम चीज़ों से डरते हैं - गरीबी से, मखौल उड़ने से, भूतों से, चोरों से, दुर्घटना से, लोगों की राय से, बीमारियों से, मौत से। किसी भी इन्सान की कहानी उसके डरों की कहानी है। लाखों वयस्क हैं जो अंधेरे में चलने से डरते हैं। हज़ारों ऐसे हैं जो पुलिस को अपने दरवाज़े की घण्टी बजाते पाकर व्यग्र हो जाते हैं। अधिकांश यात्री जहाज़ डूबने या हवाई जहाज़ की दुर्घटना की दुश्कल्पना करते हैं। रेलों की यात्रा करने वाले बीच के डब्बों में बैठना पसन्द करते हैं। लोगों का पहला सरोकार है 'सुरक्षा'।

मानव इतिहास में वह समय भी होगा जब व्यक्ति मौत के डर से भागता और छुपता होगा। आज का जीवन पहले से कहीं सुरक्षित है। आज आत्मरक्षा के लिए भय की ज़रूरत नहीं है। फिर भी आज इन्सान पाषाण युग के मानव से अधिक भय महसूस करता है। हमारे पूर्वजों के सामने तो केवल विशालकाय दानवों का ही भय

था। पर हमारे सामने तो तमाम दानव हैं - ट्रेन, जहाज़, हवाई-जहाज़, चोर, मोटर गाड़ियाँ और इन सबसे बड़ा है पकड़े जाने का डर। हमारे लिए भय अब भी ज़रूरी है। भय के चलते ही मैं सावधानी से सड़क पार करता हूँ।

प्रकृति में भय किसी प्रजाति के संरक्षण के लिए मिलता है। खरगोश और घोड़े इसलिए बचे रहे, क्योंकि भय उन्हें खतरों से बचाने के लिए भागने पर मजबूर करता रहा। जंगल कानून में भय बेहद महत्वपूर्ण है।

भय हमेशा आत्मकेन्द्रित होता है। हमें अपनी जान की या अपने चहेतों की जान की फिक्र होती है। पर ज़्यादा फिक्र खुद की जान की होती है। जब मैं छोटा था तब शाम को अंधेरे में फॉर्म तक जाकर दूध लाने से डरता था। पर जब मेरे साथ मेरी बहन होती तो मुझे यह डर नहीं सताता था कि कोई उसे मार डालेगा। भय हमेशा आत्मकेन्द्रित होता है क्योंकि अन्ततः वह मौत का ही डर होता है।

असली हीरो वह व्यक्ति है जो अपने भय को सकारात्मक ऊर्जा में बदल सकता है। हीरो भय पर काबू पाता है। एक सिपाही को जो चीज़ सबसे ज़्यादा परेशान करती है वह है भय। एक भीड़ अपने डर को सकारात्मक काम में नहीं बदल सकती। साहस से कहीं व्यापक है कायरता।

हम सभी कायर हैं। कुछ अपनी कायरता छुपा पाते हैं। दूसरे जता देते हैं। वैसे कायरता हमेशा सापेक्ष होती है। कुछ चीज़ों में आप बड़े साहसी हो सकते हैं, तो दूसरों में बिल्कुल डरपोक। रंगरूट के रूप में बम फेंकने का पहला पाठ याद आता है। एक रंगरूट उसे गढ़दे में नहीं फेंक पाया। वह फटा और कुछ लोग उस धमाके से गिरे। भाग्य से कोई मरा नहीं। उस दिन की बमबारी बन्द कर दी गई। दूसरी सुबह हम वापस वहीं पहुँचे। जब मैंने पहला बम उठाया तो मेरे हाथ काँप रहे थे। सार्जेंट ने हिकारत से मेरी ओर देखा और कहा कि मैं कायर हूँ। मैंने यह स्वीकारा।

सार्जेंट बड़ा बहादुर था। उसके कारनामों पर उसे विक्टोरिया क्रॉस मिल चुका था। वह शारीरिक भय जानता तक न था। काफी दिनों बाद उसने मुझे बताया, “नील मुझे उस टुकड़ी को कवायद करवाना पसन्द नहीं, जिसमें तुम होते हो। मुझे बड़ी घबराहट होती है।” मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने जानना चाहा कि ऐसा क्यों है?

“क्योंकि तुम्हारे पास एम.ए. की डिग्री है और मैं तो व्याकरण तक का खून कर देता हूँ।” उसने कहा। मनोविज्ञान का अध्ययन हमें यह नहीं बता पाता कि क्यों एक बच्चा साहसी तो दूसरा दबबू पैदा होता है। सम्भव है कि माता-पिता की परिस्थितियों की इसमें भूमिका हो। अगर माँ बच्चा चाहती न हो, तो सम्भव है कि वह अपनी चिन्ताएँ गर्भ के समय अपने बच्चे को दे देती हो। सम्भव है कि अनचाहा बच्चा दबबू चरित्र के साथ इस वजह से पैदा होता हो क्योंकि वह माँ के गर्भ की सुरक्षा में ही दबे रहना चाहता हो।

यद्यपि पारिवारिक प्रभावों पर हमारा कोई बस नहीं है, फिर भी इतना निश्चित है कि कई बच्चे अपने प्रारम्भिक पालन-पोषण के कारण डरपोक बन जाते हैं। इस तरह की कायरता ज़रूर रोकी जा सकती है।

एक जाने माने मनोचिकित्सक ने मुझे एक नौजवान के बारे में बताया था। छः साल की उम्र में उस लड़के ने एक सात साल की लड़की में रुचि जताई। उसके पिता ने उसकी जमकर टुकाई की और यूँ उसे उम्र भर के लिए डरपोक बना दिया। उसने अपनी तमाम उम्र उसी अनुभव के दोहराए जाने की दहशत में, पिटाई और सज़ा की आशंका में बिताई। वह हमेशा किसी विवाहित या सगाई की हुई लड़की की और आकर्षित होता और डरता कि कहीं महिला का पति या मंगेतर उसकी पिटाई न कर डाले। यही भय दूसरे मामलों में भी समा गया। वह बेहद नाखुश इन्सान में बदल गया। उसकी आत्मा दबू बन गई, वह हमेशा हीन भावना से ग्रसित रहा। हमेशा किसी खतरे की सम्भावना से आशंकित रहा। छोटी-छोटी बातों में उसका खौफ झलकता। चटरख खिली धूप में भी अगर उसे दस कदम चलना होता तो वह बरसाती और छाता लेकर ही निकलता। वह जीवन को लगातार *नकारता* रहा।

बच्चों में बालसुलभ यौन रुचि के लिए दण्ड देना उसे शर्तिया डरपोक बना देगा। वैसे ही है उसमें नरक का डर डालना।

फ्रॉयड के सिद्धान्तों को मानने वाले *बधियाकरण ग्रन्थि* का उल्लेख करते हैं। ऐसी बधियाकरण ग्रन्थि होती ही है। समरहिल में एक नन्हा बालक था जिसे बताया गया था कि उसका लिंग काट दिया जाएगा अगर वो उसे छूता है। यह लड़के-लड़कियों में एक आम भय है। यह भयानक परिणामों का डर है। क्योंकि डर और चाह कभी दूर नहीं होते। कभी-कभार नपुंसक बनने का डर नपुंसक बनने की इच्छा का एक स्वरूप है - हस्तमैथुन की सज़ा के बतौर या सेक्स की लालसा से मुक्ति पाने का तरीका।

डरे हुए बच्चे के लिए सेक्स ही सब कुछ है। वो सेक्स को एकमात्र खूँटी के रूप में देखता है जिसपर उसके डर को टांगा जा सकता है। क्योंकि उसे कहा गया है कि सेक्स दुष्ट है। डरावने सपने देखने वाला बच्चा अक्सर वही होता है जो सेक्स के विचार से डरता है। उसे डर है कि शैतान उसे नरक में ले जाएगा। क्योंकि वो एक पापी बालक है जिसे सज़ा मिलनी ही चाहिए। हव्वा, भूत-प्रेत, शैतान के ही रूप हैं। अपराधबोध से भय उपजता है। पालकों की अज्ञानता ही बच्चों में यह अपराधबोध भर देती है।

पालकों के कमरे में सोना भय उपजने का एक आम कारण है। चार साल का बच्चा ऐसा बहुत कुछ सुनता और देखता है जो उसे समझ नहीं आता। उसकी निगाह

में पिता माँ को परेशान करने वाला एक बदमाश बन जाता है। बच्चे में कामकूरता का पनपना उसकी बाल्यावस्था की गलतफहमियों और भय का नतीजा है। बच्चा खुद को अपने पिता के रूप में देखने लगता है और युवा होने पर सेक्स को पीड़ा से जोड़ता है। भय के कारण वो अपने प्रेमी के साथ वैसा ही व्यवहार करता है जैसा उसकी कल्पना में पिता माँ के साथ करते थे।

मैं भय और आशंका में अन्तर करने की कोशिश करता हूँ। शेर से डरना स्वाभाविक है और स्वस्थ भी। खराब कार चालक द्वारा चलाई जाने वाली गाड़ी में बैठने से डरना भी स्वाभाविक और स्वस्थ है। अगर यह भय नहीं होता तो हम सब बसों द्वारा कबके कुचले गए होते। पर एक मकड़ी, चूहे या भूत का डर अस्वाभाविक और अस्वस्थ है। इस तरह का भय दरअसल महज़ आशंका है। वह फोबिया है। फोबिया में जिस चीज़ का भयानक व निरर्थक भय होता है वह दरअसल उतनी खतरनाक होती नहीं। वह प्रतीक मात्र होती है। जबकि उससे जन्मी आशंका वास्तविक होती है।

ऑस्ट्रेलिया जैसे देश में मकड़ी का भय तार्किक है। वहाँ मकड़ियाँ जानलेवा हो सकती हैं, पर इंग्लैण्ड या अमरीका में यह महज़ फोबिया ही है। यहाँ मकड़ी उस चीज़ का प्रतीक बन जाती है जिसका भय हमारे अन्दर बैठा है। इसी प्रकार बच्चों में भूत का डर फोबिया है। भूत उस चीज़ का प्रतीक है जिससे बच्चा असल में डरता है। यह मौत हो सकता है अगर उसे शुरू से ईश्वर से डरना सिखाया गया है। या फिर उनकी यौन उत्तेजनाएँ भी जिन्हें पाप समझकर दबाना उसे बचपन से ही सिखाया गया है।

एक दफा मेरे पास एक ऐसी लड़की भेजी गई जिसे केंचुओं का फोबिया था। मैंने उसे केंचुए का चित्र बनाने को कहा। उसने लिंग का चित्र बनाया। फिर उसने मुझे बताया कि स्कूल के रास्ते में एक सैनिक उसे अपना लिंग दिखाया करता था। जिसे देखकर वो बहुत डर गई। यह डर केंचुए में विस्थापित हो गया। लेकिन फोबिया विकसित होने के बहुत पहले ही वह लड़की उस फोबिया के मूल कारण में अत्यधिक रुचि रखती थी - उन्मादी रुचि। उसमें यह रुचि उसकी यौन शिक्षा से - या उसके अभाव से - जगी थी। यह असाधारण रुचि इसलिए विकसित हुई क्योंकि बड़ों ने इस विषय को हमेशा रहस्यमयी और गोपनीय ढंग से प्रस्तुत किया। हाँ यह सही है कि उसे ऐसे कामप्रदर्शन का मुहरा नहीं बनना चाहिए था लेकिन बेहतर यौन शिक्षा ने उसे इस समस्या से निपटने का ऐसा विकृत तरीका अखतियार न करने दिया होता। उसमें लिंग के प्रति ऐसी गहरी उत्सुकता न पनपी होती।

कई बार छोटे बच्चों में भी फोबिया देखा जा सकता है। एक कठोर पिता के पुत्र में घोड़े, शेर, या पुलिसवाले का फोबिया घर कर सकता है। जिस भी चीज़ को

पिता-प्रतीक के रूप में देखा जा सकता है उसके प्रति फोबिया पैदा हो सकता है। यहाँ भी हम बच्चे के जीवन में सत्ता के प्रति भय जगने का खतरा साफ तौर पर देख सकते हैं।

बच्चे के जीवन में सबसे खतरनाक भय 'नरक' का हो सकता है। मैं अक्सर सड़क पर किसी माँ को यह कहते सुनता हूँ, “फौरन बन्द करो। देखो पुलिसवाला आ रहा है।” इसका एक गौण असर तो यह पड़ता है कि बच्चा जल्दी ही यह समझ जाता है कि माँ झूठ बोलती है। पर इसका महत्वपूर्ण और खतरनाक परिणाम यह होता है कि बच्चे के लिए पुलिसवाला ही शैतान का रूप ले लेता है। वह, जो बच्चों को उठा लेता हो, उन्हें अँधेरी कोठरी में बन्द कर देता हो। बच्चा यह भय हमेशा अपने सबसे गलत कामों से जोड़ता है। यही वजह है कि जब कोई पुलिसवाला हस्तमैथुन के आदी बच्चे को पत्थर फेंकते हुए पकड़ता है तो वह एकदम भयभीत हो जाता है। वह भय दरअसल सज़ा देने वाले खुदा और सज़ा देने वाले शैतान का भय है।

अपने पिछले अपराधों के कारण भी भय पनपते हैं। हम अपनी कल्पना में कई हत्याएँ करते हैं। मेरा विश्वास है कि मैं जब किसी पाँच साल के बच्चे की इच्छा के आड़े आता हूँ तो वह कल्पना में मेरा खून कर डालता है।

मेरे छात्र-छात्राएँ कई बार पिचकारी बन्दूक लेकर चीखते हैं, “हाथ उठाओ। तुम्हें मार डाला।” और यूँ वे सत्ता के प्रतीक का खात्मा करते हैं और भयमुक्त हो जाते हैं। मैंने कई बार जानबूझकर तानाशाहीपूर्ण निर्णय लिए हैं ताकि मैं बन्दूकों के खेल पर उसका असर देख सकूँ। ऐसे दिनों में मुझे दसियों बार मार गिराया गया है। इस कल्पना के बाद भय आता है। *मान लो नील सच में मर जाए। तब मैं ही अपराधी होऊँगा, मैंने ही उसकी मौत चाही थी।*

हमारी छात्राओं में एक लड़की तैरते समय दूसरों को पानी में नीचे खींचा करती थी। उसे बड़ा मज़ा आता था। बाद में उसके मन में पानी का फोबिया बैठ गया। वह अच्छी तैराक थी पर कभी गहरे पानी में न जाती। हुआ यह कि उसने अपनी कल्पना में खुद से टक्कर लेने वाले दूसरे तमाम तैराकों को डुबा दिया था। उसके मन में न्याय का भय था - *मेरे बुरे विचारों की सज़ा के रूप में मैं खुद ही डूब जाऊँगी।*

नन्हा एल्बर्ट अपने पिता को तैरते देख तट पर खड़े-खड़े ही डर जाता था। डरता इसलिए था कि उसने अक्सर मन में चाहा था कि पिता मर जाए। वह अपने अपराधबोध से ही डरता था। बच्चे कल्पना में लोगों को मारते हैं। यह बात उस वक्त इतनी भयावह नहीं लगती जब हम यह समझ लेते हैं कि बच्चे केवल उस

व्यक्ति को रास्ते से हटाना चाहते हैं जिससे वे बेहद डरते हैं।

मैं ऐसे वयस्कों से मिला हूँ जो अवचेतन रूप से स्वयं को अपनी माता या अपने पिता की मौत का ज़िम्मेदार मानते हैं। ऐसे भय को रोका जा सकता है। बशर्ते माता-पिता मार-पिटार्ई या डॉट-फटकार द्वारा बच्चे में लगातार घृणा और उससे उपजे अपराधबोध को न पनपने दें। सैकड़ों स्कूल जो आज भी शारीरिक दण्ड या दूसरी तरह की कठोर सज़ाएँ देते हैं वे बच्चों को स्थाई नुकसान पहुँचा रहे हैं।

वयस्कों के मन में कहीं यह बात गहराई तक घर कर गई है कि अगर बच्चों को कोई डर नहीं होगा तो वे अच्छे कैसे बनेंगे? जो अच्छाई नरक के डर या पुलिसवाले के डर या सज़ा के डर पर टिकी हो वह अच्छाई है ही नहीं। वह तो कायरता है। जो अच्छाई प्रशंसा या इनाम या स्वर्ग पाने की आशा पर टिकी है, वह घूसखोरी है। क्योंकि वह उन्हें जीवन से डरना सिखाती है। आज की नैतिकता बच्चों को कायर बनाती है। क्योंकि यह उनमें जीवन के प्रति भय पैदा करती है। यही अनुशासित बच्चों की 'अच्छाई' है। हज़ारों शिक्षक सज़ा का भय जगाए बिना भी अपना काम बखूबी कर सकते हैं। जिन्हें डर के इस्तेमाल की ज़रूरत है वे अक्षम हैं, उन्हें शिक्षा-व्यवसाय से खदेड़ देना चाहिए।

बच्चे हम से डरकर हमारे मूल्य स्वीकार सकते हैं। और हम वयस्कों के मूल्य भला क्या हैं? इस सप्ताह मैंने तीन पाउड एक कुत्ता खरीदने में, दस पाउड औज़ार खरीदने में और पाँच गिनी तम्बाकू खरीदने में खर्च। मैं वैसे तो सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध हूँ फिर भी मैंने ये पैसे गरीबों में नहीं बाँटे। यही कारण है कि अब मैं किसी से यह नहीं कहता कि झुग्गी-झोपड़ियाँ समाज का कलंक हैं। पहले कहता था। उस वक़्त तक, जब-तक मुझे यह नहीं पता चला कि मैं फरेबी हूँ।

सबसे सुखी घर वह है, जहाँ माता-पिता नैतिकता का उपदेश झाड़े बिना अपने बच्चों के साथ ईमानदारी बरतते हैं। इन घरों में भय नहीं घुसता। वहाँ बाप-बेटा, दोस्त होते हैं। वहाँ प्यार पनपता है। दूसरे घरों में प्यार, भय के नीचे कुचल दिया जाता है। दिखावटी गरिमा और माँगकर चाही गई श्रद्धा, प्रेम को दूर ही रखती हैं। जब इज़ज़त करने के लिए बाध्य किया जाता है तो इसका अर्थ हमेशा होता है, भय।

समरहिल में जो बच्चे अपने माता-पिता से डरते हैं, वे शिक्षकों के कमरे में मँडराया करते हैं। मुक्त माता-पिता के बच्चे हमारे पास नहीं फटकते। डरे हुए बच्चे हमें लगातार जाँचते हैं। एक ग्यारह साल का लड़का जिसके पिता बड़े सख्त हैं, दिन में बीसियों बार मेरा दरवाज़ा खोलता है। वह झँकता है, कुछ कहता नहीं है, फिर दरवाज़ा भेड़ देता है। मैं कभी-कभार उसे कहता हूँ, “ना, मैं अभी मरा नहीं हूँ।” उसने मुझे वह प्यार दिया है, जो उसका पिता स्वीकार नहीं सका। उसे यह डर

सताता है कि उसका नया और आदर्श पिता कहीं गायब न हो जाए। उसके भय के पीछे यह भी इच्छा निहित है कि उसका असन्तोषजनक पिता गायब हो जाता तो अच्छा होता।

उन बच्चों के साथ रहना आसान होता है जो हम से डरते हैं, उनकी बनिस्बत जो हमें प्यार करते हैं। डरने वाले बच्चों के साथ ज़िन्दगी शान्त होती है। क्योंकि वे डरते हैं, वे दूर रहते हैं। मुझे, मेरी पत्नी और समरहिल के तमाम शिक्षकों को बच्चे प्यार करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि हम उनका अनुमोदन करते हैं। उन्हें इससे अधिक कुछ चाहिए भी नहीं। उन्हें पता है कि हम उनकी कारगुज़ारियों पर नाक-भौं नहीं चढ़ाएँगे, इसलिए वे हमारे आस-पास रहना पसन्द करते हैं।

हमारे नन्हें-मुन्ने बिजली के कड़कने या बादलों के गरजने से नहीं डरते। वे छोटे-छोटे तम्बुओं में भयानक तूफान में भी सो सकते हैं। उनमें अँधेरे का डर भी कम नज़र आता है। कभी-कभार कोई आठ साल का बच्चा कई रात अकेले सोता है। आज़ादी हमेशा निर्भय बनाती है। मैंने अक्सर दबू बच्चों को निर्भीक युवक-युवतियों में बदलते देखा है। फिर भी सामान्यीकरण करना गलत होगा। क्योंकि कई अन्तर्मुखी बच्चे कभी भी साहसी नहीं बन पाते। कई लोगों के मन में बसे भूत-दानव ताउम्र उनके साथ रहते हैं।

अगर किसी बच्चे को बिना डराए पाला-पोसा गया है, पर उसमें फिर भी डर समाया है, तो सम्भव है कि वह भय जन्मजात हो। इस प्रकार के भय से निपटने में हमारे सामने सबसे बड़ी बाधा है, हमें बच्चे के जन्म के पहले की स्थितियों का ज्ञान न होना। आज तक यह स्पष्ट नहीं है कि गर्भवती माताएँ अपने डर कोख में पल रहे बच्चे को देती हैं या नहीं।

पर यह सब जानते हैं कि आसपास की दुनिया से बच्चा कई तरह के डर सीखता है। छोटे से छोटा बच्चा आज सम्भावित युद्धों और भयावह एटम बमों के बारे में सुनता है। ऐसी चीज़ों के डर के साथ नरक का भय जुड़ जाता है और वह एक फोबिया का रूप धर लेता है। लेकिन अगर सेक्स और नरक के प्रति कोई अचेतन भय न हो जो बम के भय को और बड़ा बना दे, तो यह डर साधारण होता न कि एक फोबिया या सर्वव्यापि चिन्ता। स्वस्थ और स्वतंत्र बच्चे भविष्य से डरते नहीं। वे खुशी से उसकी राह तकते हैं। उनके बच्चे भी कल के डर से थरते नहीं हैं।

विलियम राइक ने कहा है कि आकस्मिक भय के क्षणों में हम अपनी सांस रोक लेते हैं लेकिन डर के साए में जीने वाला बच्चा ज़िन्दगी भर सांस थामे रखने में लगा रहता है। भली प्रकार से पोषित बच्चे की निशानी है उसकी उन्मुक्त, खुली सांस। यह जीवन के प्रति उसके निडर भाव को दर्शाती है।

मुझे उस पिता से कुछ कहना है जो अपने बच्चे को अपंग बनाने वाले भय, घृणा

या अविश्वास के बिना बड़ा करना चाहता है:

कभी भी बॉस, निरीक्षक या राक्षस बनने की कोशिश मत करो। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी पत्नी बच्चों को धमकी दे सके, “आने दो, पापा को।” यह मत सहो। इसका मतलब होगा कि जो घृणा उस पल माँ की ओर लक्षित होनी थी, वह तुम्हारे हिस्से आएगी।

खुद को ऊँचे आसन पर मत बिठालो। अगर तुम्हारा बच्चा यह जानना चाहे कि क्या तुमने बचपन में कभी बिस्तर गीला किया था, हस्तमैथुन किया था, तो उसे ईमानदारी से जवाब दो। अगर तुम बॉस बने रहोगे तो तुम्हें इज़्ज़त तो मिलेगी, पर गलत तरह की इज़्ज़त। उसमें हमेशा भय का पुट होगा। पर अगर तुम उनके स्तर पर उतरोगे और यह बता सकोगे कि तुम भी बचपन में डरपोक थे, तो तुम्हें सच्ची इज़्ज़त मिलेगी। ऐसी इज़्ज़त, जिसमें प्यार और समझ शामिल हो और डर का नामोंनिशान न हो।

बच्चे में ग्रंथियाँ पैदा किए बिना पालना इतना कठिन भी नहीं है। बच्चे को कभी डराना नहीं चाहिए, उसमें अपराधबोध नहीं जागना चाहिए। हर तरह का डर हटाना सम्भव भी नहीं हो सकता। अचानक ज़ोर से दरवाज़ा बन्द होते ही हम चौंक जाते हैं। पर बच्चे पर बाहर से थोपा गया अस्वास्थ्यकर डर तो हम हटा ही सकते हैं। सज़ा का डर हटा सकते हैं, नाराज़ खुदा का डर हटा सकते हैं, नाराज़ माता-पिता का भय हम हटा सकते हैं।

हीन भावना और कल्पना लोक

वह क्या है जो बच्चे में हीन भावना जगाता है? बच्चा बड़ों को वह सब करते देखता है, जो वह खुद कर नहीं सकता या जिसे करने की उसे अनुमति नहीं होती।

लिंग का हीन भावना से गहरा सम्बंध है। नन्हें बालक अपने लिंग की लम्बाई को लेकर अक्सर शर्म महसूस करते हैं और लड़कियाँ लिंग के अभाव में खुद को हीन महसूस करती हैं। मेरा विचार है कि लिंग को सत्ता के प्रतीक के रूप में देखना उस नैतिक शिक्षा का परिणाम है जो इसे हमेशा गोपनीयता और प्रतिबंधों के साथ जोड़ती है। लिंग बाबत दबे हुए विचार आम तौर पर कल्पना के रूप में उभरते हैं। एक रहस्यमयी चीज़ जिसपर माँ और नर्स ने इतने जतन से निगाह रखी वह अतिरेक महत्व की चीज़ बन जाती है। हम इसी चीज़ को लिंग की अदभुत शक्ति वाली कहानियों में देखते हैं। अल्लादीन के चिराग रगड़ने से जो दुनिया की तमाम खुशियाँ उस तक आ जाती हैं वह हस्तमैथुन का सुख दर्शाता है। इसी तरह बच्चों

की कल्पनाएँ मल को महत्व की चीज़ बना देती हैं।

बच्चों की कल्पनाएँ अहम को केन्द्र में रखती हैं। वे ऐसे सपने होते हैं जिसमें सपना देखने वाला ही हीरो या हीरोइन होता है। यह दुनिया की वह कहानी होती है, जैसी वह दरअसल होनी चाहिए। यह वही दुनिया है, जिसमें हम जैसे वयस्क व्हिस्की के गिलास थामे घुसते हैं, या उपन्यासों या चलचित्रों के माध्यम से घुसते हैं। बच्चा इस दुनिया में कल्पना के सहारे प्रवेश पाता है। कल्पना वास्तविकता से भागने की कोशिश होती है। वह इच्छापूर्ति की दुनिया में ले जाती है। ऐसी दुनिया में जहाँ कोई सीमाएँ न हों। पागल भी वहाँ सैर करने जाते हैं। सामान्य बच्चे भी कल्पनाएँ करते हैं। कल्पना जगत सपनों की दुनिया से अधिक आकर्षक होता है। सपनों में दुःस्वप्न भी शामिल होते हैं। पर काल्पनिक दुनिया पर हमारा कुछ नियंत्रण होता है। हम उसी की कल्पना करते हैं जो हमारे अहम को तुष्ट करे।

जब मैं जर्मनी के एक स्कूल में पढ़ाता था तो मेरी एक दस वर्षीया यहूदी छात्रा थी। उसके मन में तमाम डर थे। पहले दिन वह एक बड़े से बस्ते में किताबें लाई। मेज़ पर बैठकर वह पुराने किस्म के हिसाब करने लगी : 4 जमा 563, जमा 207 को 4 जमा 379 से भाग दो। तीन दिनों तक यह सिलसिला चला। मैंने जानना चाहा कि क्या उसे ऐसे हिसाब करना पसन्द है। उसने धीमे से जवाब दिया, “हाँ।”

चौथे दिन उसे त्रस्त हो गुणा-भाग करते पाकर मैंने फिर पूछा, “क्या तुम्हें सच में ऐसे हिसाब करना पसन्द है?” वह फफक पड़ी। मैंने किताब छीनी और कमरे के दूसरे कोने में फेंक दी। मैंने कहा, “यह मुक्तशाला है। तुम जो चाहो वह कर सकती हो।” वह अचानक खुश दिखने लगी। उसने पूरे दिन कोई काम नहीं किया, सिर्फ़ सीटी बजाती रही।

कई महीनों बाद मैं जंगल में टहलने गया हुआ था। अचानक एक आवाज़ कानों में पड़ी और तब स्लोविया दिखी। वह भी टहल रही थी, हँस और बोल रही थी। ज़ाहिर था कि वह कई चरित्रों की भूमिका अदा कर रही थी। उसने मुझे पास से गुज़रते तक देखा।

अगले दिन मैंने उससे कहा कि मैंने उसे जंगल में खुद से बतियाते सुना था। वह अचकचा गई और भाग खड़ी हुई। दोपहर वह मेरे दरवाज़े के पास खड़ी मिली। अन्ततः उसने साहस जुटाया, अन्दर आई और बोली, “बताना बड़ा मुश्किल है। फिर भी मैं क्या कर रही थी, यह बताना चाहती हूँ।”

एक खूबसूरत-सी कहानी पता चली। सालों से स्लोविया सपनों के एक गाँव में रहती थी। उसने गाँव का नाम ग्रूनवाल्ड रखा था। उसने गाँव के नक्शे दिखाए, घरों की बसाहट बताई। उसने हर घर में अलग-अलग लोग बसाए थे। वह हरेक

को गहराई से जानती थी और जो मैंने उस दिन जंगल में सुना था, वह गाँव के दो लड़कों - हान्स व हेल्मुट - की बातचीत थी।

इस कल्पना के पीछे क्या है, यह जानने में मुझे कुछ सप्ताह लगे। स्लोविया अपने माता-पिता की इकलौती औलाद थी। साथ खेलने वाले संगी-साथी थे नहीं, सो उसने कल्पना में एक गाँव ही बना लिया, जिसमें उसके संगी-साथी बसते थे।

मैंने उसके कल्पना जगत को तोड़ने का निर्णय लिया और उसे उसके पीछे की सच्चाई बता दी। दो दिन तक वह बड़ी दुखी रही। उसने मुझे रोते-रोते बताया, “मैंने कल रात ग्रूनवाल्ड जाने की कोशिश की, पर जा नहीं सकी। तुमने वह सब बिगाड़ दिया है जो मुझे ज़िन्दगी में सबसे प्यारा था।”

पर दस दिन बाद एक शिक्षक ने टिप्पणी की, “स्लोविया को क्या हुआ? वह सारा दिन गुनगुनाती फिरती है। और बेहद खूबसूरत भी लगने लगी है।” यह सच था। वह सच में खिल उठी थी। अचानक तमाम चीज़ों में वह रुचि लेने लगी थी। वह पाठों के लिए जा रही थी, अच्छी तरह पढ़ रही थी। उसने चित्रकारी करनी शुरू की और कुछ सुन्दर चित्र बनाए। संक्षेप में वह फिर से वास्तविकता से जुड़ सकी। उसके अकेलेपन ने ही उसे एक काल्पनिक जगत की रचना पर मजबूर किया था।

एक और बच्ची थी जो काल्पनिक जगत में एक बेहतरीन अभिनेत्री थी। दर्शकों की भीड़ तालियों की गड़गड़ाहट से उसका स्वागत करती थी। उसे दर्शकों ने सोलह बार मंच पर फिर-फिर बुलाया था।

जिम एक ऐसा लड़का है जिसे गुस्से के दौर पड़ते रहते हैं। उसकी कल्पना में हमेशा पेशाब और मल शीर्ष पर रहता है। वह सेक्स को ताकत के बतौर लेता है।

एक नौ साल का बच्चा है, जो रेलगाड़ी को लेकर कल्पनाएँ करता है। वह हमेशा रेल का चालक बनता है और अमूमन राजा-रानी; माता-पिता आदि उसकी रेल में सवार होते हैं।

नन्हें चार्ली के कल्पना जगत में ढेरों हवाई जहाज़ और गाड़ियाँ हैं।

जिम अपने अमीर चाचा के बारे में बातें किया करता जिसने उसे छोटी रोल्स रॉयस भेंट की थी। जिम का कहना है कि उसे अपनी नई गाड़ी चलाने के लिए लाइसेंस की ज़रूरत नहीं। एक बार जिम ने उसके कुछ साथियों को उकसाया और वे सब चार मील दूर के स्टेशन जाने को तैयार हो गए। उनको कहा गया था कि चाचा ने रेल से रोल्स रॉयस भेजी है। मैंने उनको रोकने का निर्णय लिया क्योंकि मैं जानता था कि बच्चे इतनी दूर जाने के बाद निराश होने वाले हैं। ऐसा इसलिए कि गाड़ी केवल जिम की कल्पना की उड़ान है। मैंने उनको कहा कि जाने पर उन्हें दोपहर का खाना नहीं मिलेगा। जिम पहले ही बेचैन था। तुरन्त बोल उठा, “हाँ

हमें खाने के लिए रुकना ही होगा।” उनकी मेट्रन ने तुरन्त कहा वे स्टेशन तक की यात्रा के एवज़ में बच्चों को सिनेमा दिखाने ले जाएँगी। बच्चे बड़े उत्साह से तैयार हो गए और जिम ने चैन की सांस ली। क्योंकि वह बखूबी जानता था कि उपहार में गाड़ी देने वाला उसका चाचा, काल्पनिक था।

जिम की कल्पना सेक्स से नहीं जुड़ी थी। जब से वो समरहिल आया वो दूसरों पर रौब गाँठने की कोशिश में लगा रहता। और डींगें हांकना ही उसका तरीका था। एक बार जिम ने अपने दोस्तों को बताया कि उसके एक और चाचा दो समुद्री जहाज़ों के मालिक थे। सो बच्चों ने उसे कहा कि वह चाचा को चिट्ठी लिखे और उनसे एक मोटरयुक्त नाव उपहार में माँग ले। कई दिनों तक वे लाइम बन्दरगाह की ओर ताकते रहे। इस उम्मीद में कि जहाज़ उस मोटरबोट को खींचता हुआ वहाँ पहुँचेगा। जिम इसी तरह से अपना कद ऊँचा करता। वह एक छोटे कद का लड़का था जिसे माँ बाप ने बोर्डिंग स्कूल में भेजा था। इस हीन भावना से उबरने की कोशिश में कल्पनाएँ करता था।

अगर सभी कल्पनाओं को नष्ट कर दिया जाए तो जीवन कितना नीरस और उबाऊ बन जाए। रचना के हरेक कर्म के पहले कल्पना ज़रूरी होती है। क्रिस्टफर रेन ने सेंट पॉल्स केथीड्रल की नींव डालने से पहले ही उसे अपनी कल्पना में बनाया होगा।

वही सपना सँजोने लायक है जिसे वास्तविकता में उतारा जा सके। दूसरी तरह का सपना, कल्पना जगत में उड़ानें भरते रहने वाला सपना, सम्भव हो तो तोड़ना चाहिए। अगर बच्चा हमेशा कल्पना जगत में ही जीता जाए तो उसमें टहराव आ सकता है। अधिकांश स्कूलों में जिन बच्चों को ढोर-शंख (बुद्धू) कहा जाता है वे दरअसल अपनी काल्पनिक दुनिया में खोए रहते हैं। कोई बच्चा गणित में उस समय कैसे रुचि ले सकता है जब उसका चाचा उसे रोल्स रॉयस भेजने वाला हो?

कई बार नन्हें बच्चों के माता-पिता से पढ़ने-लिखने को लेकर मेरी झड़पें हुई हैं। एक माँ ने लिखा, “मेरा लड़का ऐसा हो, जो समाज में फिट बैठे। आप उसे ज़बरदस्ती पढ़ना-लिखना सिखाएँ।” अमूमन मेरा जवाब यह होता है, “आपका बच्चा काल्पनिक दुनिया में रहता है। उसे वहाँ से निकालने में, उस दुनिया को तोड़ने में तकरीबन साल भर लगेगा। उस पर इस वक्त पढ़ने-लिखने का दबाव डालना अपराध होगा। जब तक काल्पनिक जगत से उसकी रुचि नहीं हट जाती, पढ़ने में उसकी रती भर रुचि नहीं होगी।”

यह सम्भव है कि मैं बच्चे को अपने कमरे में ले जाऊँ और फटकारूँ, कहूँ, “दिमाग से चाचाओं और गाड़ियों के फितूर निकालो। ये सब मनगढ़न्त बातें हैं और तुम यह जानते हो। कल सुबह पढ़ने जाना, नहीं तो तुम्हें मैं दूसरी तरह बात समझा

दुँगा।” यह कहना एक अपराध होगा। जब तक उस कल्पना की जगह कुछ दूसरा स्थापित करने का विकल्प सामने न हो, उसे तोड़ना गुनाह है। अच्छा तो यह रहे कि हम बच्चों को उस बारे में बोलने को प्रोत्साहित करें। दस में से नौ बच्चे धीरे-धीरे खुद ही उस कल्पना में रुचि लेना बन्द कर देते हैं। केवल उस स्थिति में जब बच्चा वास्तविकता से कटकर सालों-साल काल्पनिक जगत में रहता हो, तब ही उसे झटके से तोड़ने की बात सोची जा सकती है।

मैंने कहा कि कल्पना की जगह कुछ दूसरा स्थापित किया जाना चाहिए। अपने स्वास्थ्य के लिए हरेक बच्चे, हरेक वयस्क के पास, एक ऐसा क्षेत्र ज़रूर होना चाहिए, जहाँ वह दूसरों से श्रेष्ठ साबित हो सके। किसी भी कक्षा में श्रेष्ठ होने के दो रास्ते हैं: या तो कोई बच्चा सर्वाधिक अंक पाए या जो सबसे कमज़ोर हो, उस पर हावी हो सके। इन दोनों में से श्रेष्ठ साबित होने का दूसरा तरीका अधिक आकर्षक लगता है। यह आसान तरीका है जिसे बहिर्मुखी बच्चे अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अपनाते हैं।

जो बच्चे अन्तर्मुखी होते हैं वे अपनी श्रेष्ठता पाने के लिए कल्पना जगत का सहारा लेते हैं। वास्तविक जगत में उनकी श्रेष्ठता कहीं नहीं होती। वह लड़ नहीं सकता, वह खेल में अच्छा नहीं है, वह अभिनय नहीं कर सकता, या अच्छा गा-नाच नहीं सकता। पर अपनी काल्पनिक दुनिया में वह बच्चा मुक्केबाज़ी में विश्व चैम्पियन होता है। अहम को तुष्ट करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक महत्वपूर्ण ज़रूरत है।

विध्वंसकता

वयस्कों को यह बात समझना कठिन लगता है कि बच्चों में किसी की सम्पत्ति के प्रति सम्मान नहीं होता। वे जानबूझकर तोड़-फोड़ नहीं करते। *वे अनजाने में ही तोड़-फोड़ करते हैं।*

एक बार मैंने एक सामान्य, खुश व सन्तुलित बच्ची को हमारे शिक्षक-कक्ष में रखी कीमती लकड़ी की अलमारी में गरमा-गरम सलाख से छेद करते देखा था। जब मैंने उसे टोका तो वह चौंक-सी गई। उसने पूरी ईमानदारी से जवाब दिया, “मैंने यह बिना सोचे कर डाला।” उसका यह काम प्रतीकात्मक था। चेतन दिमाग के नियंत्रण से परे था।

सच्चाई यह है कि वयस्कों में कीमती चीज़ों को लेकर मिल्कियत की भावना होती है, लेकिन बच्चों में नहीं। ज़ाहिर है कि जहाँ बच्चे और बड़े साथ-साथ रहते हों, वहाँ तमाम चीज़ों के बारे में झगड़ा हो सकता है। समरहिल में बच्चे सोने के पाँच

मिनट पहले अलाव जलाते हैं। वे उसमें ढूँस-ढूँसकर कोयला भरते हैं। क्योंकि उनके लिए कोयला काला पत्थर भर है, पर मेरे लिए इसका मतलब है 300 पाउण्ड का सालाना खर्च। बच्चे बतियाँ जली छोड़ते हैं क्योंकि वे उसे बिजली के बिलों से जोड़कर नहीं देखते।

बच्चों के लिए फर्नीचर का कोई महत्व ही नहीं है। इसलिए समरहिल में हम पुरानी गाड़ियों और बसों की सीटें खरीदते हैं। वे एक दो महीने में चूर-चूर हो जाती हैं। खाने के दौरान किसी चीज़ को दूसरी बार लेने के इंतज़ार में खड़े बच्चे अपने काँटों को तोड़-मरोड़ देते हैं। यह सब वे अचेतन या अर्धचेतन अवस्था में करते हैं। बच्चे केवल स्कूली सम्पत्ति का ही नुकसान नहीं करते। वे अपनी खुद की तीन सप्ताह पहले आई नई साइकिल को भी, नयापन खत्म होने के बाद, आँधी-बरसात में बाहर पड़ी रहने देते हैं।

आठ-नौ साल की उम्र में बच्चों में जो विध्वंस नज़र आता है, वह बुराई या असामाजिकता के कारण नहीं होता। उस वक़्त तक उनमें व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव ही नहीं होता। कल्पना जगत में विचरते समय वे चद्दरों और कम्बलों से अपने कमरों में जहाज़ बनाते हैं। इस प्रक्रिया में चद्दर काली हो सकती हैं और कम्बल फट सकते हैं। पर काली चद्दर का उस वक़्त क्या मतलब हो सकता है जब समुद्री डाकू एक-दूसरे के जहाज़ों पर तोप के गोले बरसा रहे हों?

सच, जो व्यक्ति बच्चों को आज्ञादी से बड़ा करना चाहे उसे धन्ना सेठ होना चाहिए। क्योंकि बच्चों की स्वाभाविक असावधानी हमेशा खर्चीली सिद्ध होती है।

अनुशासन के पक्ष में बोलने वाले कहते हैं कि बच्चों को सम्पत्ति का सम्मान करने पर बाध्य करना चाहिए। यह बात मुझे जँचती नहीं है क्योंकि इससे उसे अपने खेल की ज़िन्दगी में काफी कुछ त्यागना पड़ता है। मेरा मानना है कि चीज़ों की कीमत बच्चों में समय के साथ स्वतः ही उपजनी चाहिए। बच्चे किशोरावस्था में आते-आते सम्पत्ति का सम्मान करने लगते हैं। जब उन्हें सम्पत्ति के प्रति उदासीन रहने की स्थिति में जीने दिया जाता है, तब वे फायदा उठाने वाले या शोषक नहीं बनते।

लड़कियाँ उतनी तोड़-फोड़ नहीं करतीं, जितनी लड़के करते हैं। शायद इसलिए क्योंकि उनकी काल्पनिक दुनिया में समुद्री डाकूओं के जहाज़ और गुण्डा समूहों की ज़रूरत नहीं होती। फिर भी लड़कियों के कमरे भी उतने ही बेतरतीब होते हैं, जितने लड़कों के। मैं यह स्पष्टीकरण नहीं मानता कि लड़के आकर वहाँ गड़बड़ कर जाते हैं।

कुछ साल पहले हमने बच्चों के सोने के कमरों में एक खास तरह के बोर्ड लगवाए

ताकि सर्दियों में कमरे गरम रहें। छोटे बच्चे उसे देखते ही उसमें छेद करने लगते हैं। पिं-पौंग खेलने वाले कमरे में लगा बोर्ड ऐसा लगता है, मानों बमबारी के बाद का बर्लिन शहर हो। बच्चे उसी तरह बोर्ड में छेद करते हैं, मानों नाक में ऊँगली घुसेड़ रहे हों। अमूमन यह पूर्णतः अवचेतन कृत्य होता है जैसे दूसरी तरह की तोड़-फोड़। उसका छुपा या रचनात्मक उद्देश्य भी हो सकता है। अगर किसी लड़के को जहाज़ का तल बनाने के लिए धातु के टुकड़े की ज़रूरत हो और उसे कील मिले तो वह उसे काम में ले लेगा। अगर कील न मिले तो वह कोई भी कीमती छोटा औज़ार, अगर उसका आकार सही हो तो, इस्तेमाल कर लेगा। बच्चों के लिए छेनी और कील दोनों ही धातु का एक टुकड़ा भर हैं। और एक चतुर लड़के ने एक महँगा रंगई ब्रश तारकोल पोतने के काम में ले लिया था।

हमने सीखा है कि बच्चों और वयस्कों के मूल्यों में अन्तर होता है। अगर कोई स्कूल बच्चों को सुधारने के लिए सुन्दर चित्र टाँगता है या कमरों में खूबसूरत फर्नीचर रखता है, तो वह शुरुआत ही गलत सिरे से करता है। बच्चे दरअसल काफी जंगली होते हैं और जब तक वे संस्कृति की माँग नहीं करते, उन्हें आदिम और अनौपचारिक वातावरण में ही रहने देना चाहिए।

कुछ साल पहले जब हम इस घर में आए-आए ही थे, तो हमने सुन्दर दरवाज़ों पर बच्चों को चाकू-छुरियाँ फेंकते देखा था। हमने दो पुराने रेल के डिब्बे खरीदे और उनसे एक बंगला बनाया। यहाँ हमारे जंगली बच्चे जी भरकर चाकू-छुरे फेंक सकते थे। आज चालीस साल बाद भी उनकी हालत इतनी खराब नहीं है। उनमें अब बारह से सोलह साल के लड़के रहते हैं। इनमें से अधिकांश उस उम्र में पहुँच गए हैं जहाँ उन्हें आरामदेह चीज़ें और सजावट पसन्द आती हैं। वे अपने डिब्बों को साफ-सुथरा रखते हैं। बाकी बच्चे अस्तव्यस्त रहते हैं। अस्तव्यस्त रहने वाले बच्चे हाल में निजी स्कूलों से आए हैं।

समरहिल में निजी स्कूल के पूर्व छात्र हमेशा अलग से पहचाने जा सकते हैं। वे सबसे गन्दे रहते हैं, नहाते-धोते नहीं हैं और मैले-कुचैले कपड़े पहनते हैं। अपनी आदिम प्रवृत्तियों को जी भर के जी लेने में उन्हें समय लगता है। ये प्रवृत्तियाँ निजी स्कूल में पढ़ने के दौरान दबाई गई होती हैं। आज्ञादी के माहौल में भी सामाजिक जीव बने रहने में उन्हें वक़्त लगता है।

आज़ाद स्कूल में सबसे ज़्यादा झमेला वर्कशॉप में होता है। शुरुआती दिनों में हमारी वर्कशॉप सबके लिए हर समय खुली रहा करती थी। परिणामस्वरूप उसके सारे औज़ार या तो खो गए या टूट-फूट गए। नौ साल के लड़के छेनी को स्कू-ड्राइवर की तरह काम में लेते या फिर साइकिल सुधारने के लिए पाना लेते और उसे सड़क पर छोड़ आते।

तब मैंने अपनी निजी वर्कशॉप को मुख्य वर्कशॉप से अलग करने का निर्णय लिया और एक दीवार चिनवा दी। पर मेरी आत्मा मुझे कचोटती रही। मुझे लगा कि मेरा व्यवहार स्वार्थी और असामाजिक है। अन्ततः मैंने बीच की दीवार तुड़वा दी। अगले छह माह में मेरी निजी वर्कशॉप में एक भी औज़ार साबुत न बचा। एक बच्चे ने सारे तार अपनी मोटर साइकिल सुधारने में इस्तेमाल कर लिए। दूसरे ने मेरी खराद तोड़ डाली। ताम्बे और चाँदी का काम करने वाली हथौड़ियों को पत्थर तोड़ने के काम में लिया गया। कुछ औज़ार गायब हुए तो वापस ही नहीं मिले। पर इससे भी बुरा यह हुआ कि हस्तकला में रुचि पूरी तरह मर गई। बड़े छात्रों ने कहा, “वर्कशॉप में जाने का मतलब ही क्या है? वहाँ तो सारे औज़ार बेकार पड़े हैं।” और सच में औज़ार बर्बाद हो चुके थे।

मैंने स्कूल की आमसभा में प्रस्ताव रखा कि मेरी वर्कशॉप पर फिर से ताला लगाया जाए। प्रस्ताव मंजूर हुआ। पर जब भी मेहमान आते और मुझे ताला खोलकर वर्कशॉप दिखाना पड़ता तो मुझे बेहद शर्म आती। *क्या कहा? आज़ादी और तालाबन्द दरवाज़ा?* सच यह बड़ा अजीब नज़र आता था। मैंने तय किया कि स्कूल में एक और वर्कशॉप हो जो हमेशा खुली रहे। मैंने उसमें सभी ज़रूरी चीज़ें रखवाईं। बेंच, बाँके, आरियाँ, छेनियाँ, रन्दे, हथौड़ियाँ, प्लायर, पाने आदि, आदि। तकरीबन चार महीने बाद मैं कुछ मेहमानों को स्कूल दिखा रहा था। जब मैंने अपनी वर्कशॉप का ताला खोला तो एक ने टिप्पणी की, “यह तो आज़ादी-सा नहीं लगता।”

मैंने जल्दी से जोड़ा, “बच्चों की वर्कशॉप दूसरी है। वह दिन भर खुली रहती है। आइए मैं आपको दिखाता हूँ।” वहाँ जाने पर वर्कशॉप में बेंच के अलावा कुछ न था। बाँका तक गायब था। हमारी बारह एकड़ ज़मीन के किस कोने में छेनियाँ और हथौड़ियाँ बिखरी पड़ी हैं, यह मुझे कभी पता नहीं लगा।

वर्कशॉप की स्थिति शिक्षकों को परेशान करती रही। मुझे सबसे ज़्यादा परेशान करती रही, क्योंकि औज़ार मेरी नज़र में बेहद कीमती थे। लगा कि समस्या इस बात में है कि सारे औज़ार पूरे समूह के लिए हैं। अगर हम इसमें मिलिक्रियत का भाव डालें तो स्थिति शायद सुधरे। हरेक बच्चे का, जिसे औज़ार चाहिए हों, अपना एक निजी सेट हो।

मैंने बात आम सभा में उठाई। विचार का स्वागत हुआ। अगले सत्र में कुछ बड़े बच्चे घरों से अपने औज़ार लेकर आए। वे औज़ारों को सावधानी से काम में लेते रहे और उन्हें अच्छी तरह रखने लगे।

सम्भव है कि समस्या इस बात से पैदा होती है कि समरहिल में आयु का काफी अन्तर है। छोटे लड़कों-लड़कियों के लिए औज़ार कोई मायने ही नहीं रखते,

इसलिए हमारे हस्तकला शिक्षक आजकल वर्कशॉप पर ताला लगाते हैं। मैं कुछ बड़े छात्रों को उदारता से अपनी वर्कशॉप में जब वे चाहें, काम करने देता हूँ। वे औज़ारों को सावधानी से काम में लेते हैं क्योंकि वे उस आयु में पहुँच चुके हैं, जहाँ वे यह समझते हैं कि सावधानी से ही अच्छा काम होता है। साथ ही वे आज़ादी और उच्छृंखलता का अन्तर भी समझते हैं।

फिर भी समरहिल में तालाबन्दी की संस्कृति बढ़ती नज़र आती है। मैंने यह बात एक शनिवारीय आम सभा में उठाई, “मुझे यह पसन्द नहीं। मैं आज सुबह कुछ मेहमानों को लेकर गया तो मुझे वर्कशॉप, प्रयोगशाला, कुम्हारगिरी वाला कमरा और रंगमंच खोलने पड़े। मेरा सुझाव है कि सभी सार्वजनिक कमरे दिन भर खुले रहें।”

मतभेद की आँधी उमड़ी। कुछ बच्चों ने कहा, “प्रयोगशाला इसलिए बन्द रहती है क्योंकि वहाँ ज़हर और खतरनाक रसायन हैं और कुम्हारगिरी का कमरा उससे सटा हुआ है, उसे भी बन्द रखना ज़रूरी है।”

“वर्कशॉप हम खुली नहीं छोड़ेंगे। पिछली बार क्या हुआ था, याद है न,” दूसरों का कहना था।

मैंने गुहार की, “कम से कम रंगमंच तो खुला छोड़ा जा सकता है, उसे उठाकर तो कोई नहीं ले जाएगा।”

नाटकों के लेखक, अभिनेता, अभिनेत्रियाँ, स्टेज और लाइट प्रबन्धक सब एक साथ उछल पड़े। लाइट प्रबन्धक ने कहा, “हम रंगमंच खुला छोड़ गए और किसी गधे ने सारी बत्तियाँ जलाई और भाग गया। तकरीबन तीन किलो वॉट की लाइटें पूरे समय जलती रहीं। खर्च का हिसाब खुद लगाओ।” फलस्वरूप ताले हटाने के मेरे प्रस्ताव पर कुल दो हाथ उठे। एक मेरा और दूसरा एक सात साल की लड़की का। बाद में पता चला कि वह समझी कि इससे पहले जो प्रस्ताव था, उस पर मतदान जारी है। उसमें सात साल के बच्चों को सिनेमा देखने जाने देने की बात हुई थी। बच्चे खुद अपने अनुभव से समझने लगे थे कि निजी सम्पत्ति का सम्मान करना चाहिए।

पर दुखद सच्चाई यह है कि अक्सर हम वयस्कों को चीज़ों की सुरक्षा की फिक्र, बच्चों की सुरक्षा से अधिक होती है। किसी व्यक्ति का पियानो, उसके औज़ार, उसके कपड़े, सैकड़ों चीज़ें उसका हिस्सा बन जाती हैं। रन्दे को बुरी तरह इस्तेमाल करते देखने से व्यक्तिगत स्तर पर तकलीफ होती है। अपनी चीज़ों के लिए प्यार, अक्सर बच्चों के लिए प्यार से अधिक होता है। जब-जब हम *खबरदार!* उसे *हाथ न लगाना* कहते हैं हम बच्चों की तुलना में उस वस्तु के प्रति प्यार जताते हैं।

बच्चा हमारे लिए परेशानी का कारण बन उठता है क्योंकि उसकी इच्छाओं का वयस्कों की अहंकारी इच्छाओं के साथ टकराव होता है।

तीन छोटे लड़कों ने एक बार मेरी महँगी इलैक्ट्रिक टॉच उधार ली। वह कैसे बनी है यह देखने में उसे बर्बाद कर डाला। यह कहना कि उनकी जिज्ञासा से मुझे बड़ी खुशी हुई, गलत होगा। मुझे जिज्ञासा का मनोवैज्ञानिक अर्थ जानते-समझते हुए भी गुस्सा आया। पिता का टॉच लिंग का प्रतीक था।

मेरा एक दिवास्वप्न है कि एक करोड़पति बाप का बेटा हमारा छात्र बने। अपनी कल्पना में मैं उस पर तमाम व्यापक प्रयोग करता हूँ, जिसका सारा खर्च उसके पिता वहन करते हैं। क्योंकि एक मनोरोगी बच्चे को आज्ञादी देना महँगा धँधा है। कोई भी स्वस्थ बच्चा रोज़मर्रा के नाशते की तरह, टेलीविज़न पर कीलें नहीं ठोकता।

यह सब हमें उस सवाल पर लाता है जो हमेशा मेरे भाषणों के दौरान उठाया जाता है। *आप उस वक़्त क्या करेंगे, जब कोई लड़का आपके पियानो पर कीलें ठोकने लगे?* अब मैंने इतनी महारत हासिल कर ली है कि मैं पहले से यह सवाल पूछने वाले व्यक्ति की पहचान कर लेता हूँ। अमूमन वे सामने की सीट पर बैठे मिलते हैं और भाषण के दौरान नाक चढ़ाकर मतभेद ज़ाहिर करते हैं।

सवाल का सबसे अच्छा जवाब यह है: *अगर बच्चों के प्रति आपका दृष्टिकोण सही हो तो आप क्या करते हैं, उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता।* अगर आप कील ठोकने को लेकर उसमें अपराधबोध नहीं जगाते तो आप बेशक उसे पियानो से जबरन दूर कर सकते हैं। अपने व्यक्तिगत अधिकारों पर अड़ने में कोई हर्ज़ नहीं है, बशर्ते आप उसमें सही-गलत की नैतिकता न जोड़ें। *शैतान, गन्दा, बुरा* ऐसे शब्दों का प्रयोग ही नुकसान करता है।

नन्हें हथौड़ेबाज़ की ओर लौटते हैं। ज़ाहिर है उसे कीलें ठोकने के लिए पियानो की जगह लकड़ी की पट्टी चाहिए। हरेक बच्चे को वे औज़ार पाने और इस्तेमाल करने का अधिकार है, जो उसे स्वयं को अभिव्यक्त करने का मौका देते हैं। ये औज़ार उसके अपने भी होने चाहिए। पर यह ध्यान रखिएगा कि वे उसकी कीमत पैसों में नहीं आकेंगे।

एक समस्यात्मक बच्चे द्वारा की गई तोड़-फोड़ और एक साधारण बच्चे की तोड़-फोड़ में फ़र्क होता है। सामान्य बच्चे नफरत या चिन्ता से प्रेरित हो तोड़-फोड़ नहीं करते। उनकी काल्पनिक रचनात्मकता के दौरान जो तोड़-फोड़ होती है, वह विद्वेष से नहीं उपजती।

वास्तविक विध्वंस घृणा का रूप है। इसका सांकेतिक अर्थ है कत्ल करना। यह

केवल समस्यात्मक बच्चों में ही नज़र नहीं आता। बल्कि युद्ध के दौरान जिन लोगों के घरों पर कब्जे किए गए हों वे जानते हैं कि सैनिक बच्चों से ज्यादा विनाश करते हैं। यह स्वाभाविक है, क्योंकि उनका काम ही विध्वंस है। रचना जीवन के समान है और विनाश मृत्यु के। विनाशकारी समस्यात्मक बच्चा जीवन-विरोधी होता है।

आशंकित बच्चों की विनाशकता के कई कारण हो सकते हैं। उनमें से एक है - भाई या बहन के प्रति जलन। क्योंकि बच्चा मानता है कि उसके भाई या बहन को ज्यादा प्यार मिलता है। दूसरा कारण सीमित करने वाली सत्ता के विरुद्ध विद्रोह भी हो सकता है और यह भी हो सकता है कि बच्चा उस वस्तु के अन्दर क्या है, यह जानने में उत्सुक हो।

हमारा सरोकार तोड़ी गई वस्तु से न होकर उस दबी हुई नफरत से होना चाहिए जो तोड़-फोड़ के कृत्य से अभिव्यक्त की गई है। कुछ परिस्थितियों में यही नफरत बच्चे को दूसरों को पीड़ा पहुँचाने में मज़ा लेने वाला इन्सान बना डालती है।

यह सवाल महत्वपूर्ण है। इसका ताल्लुक हमारे समाज की बीमारी से है, जहाँ बालवाड़ी से कब्र तक घृणा पनपती है। सच, दुनिया में काफी प्रेम भी है। अगर वह न होता तो मानवता खत्म हो जाती। हरेक माँ-बाप, हरेक शिक्षक को अपने अन्दर दबे प्रेम की तलाश करनी चाहिए।

झूठ

अगर आपका बच्चा झूठ बोलता है तो या तो वह आपसे डरता है या फिर आपकी नकल कर रहा है। जो माँ-बाप झूठ बोलते हैं उनके बच्चे ज़रूर झूठ बोलेंगे। अगर आप अपने बच्चे से सच्चाई की अपेक्षा करते हैं, तो उससे झूठ न बोलें। इस वक्तव्य में नैतिकता का उपदेश नहीं है, क्योंकि हम सब कभी न कभी झूठ बोलते हैं। कभी-कभार हमारा झूठ दूसरों की भावना को ठेस न पहुँचाने के लिए होता है। जब हमें कोई अहंकारी या दम्भी कहे तो भी हम अपने बचाव में झूठ बोलते हैं। “माँ का सिर दुख रहा है, चुप रहो।” कहने के बदले शायद ज़ोर से यह कहना बेहतर है कि “यह शोरगुल अब बिल्कुल बन्द करो।” यह आप केवल तब कह सकते हैं, जब बच्चा आपसे थर्राता न हो।

कई बार माता-पिता अपने सम्मान की सुरक्षा में झूठ बोलते हैं। “पापा, तुम छह लोगों से एक साथ लड़ सकते हो, है न?” इस सवाल का जवाब देने में साहस की ज़रूरत होती है, “ना, बेटा, मेरी तौंद और शिथिल शरीर से, अब मैं एक अकेले बौने तक से नहीं लड़ सकता।”

कितने पिता अपने बच्चों से यह कह सकते हैं कि उन्हें बिजली कड़कने से या पुलिस वाले से डर लगता है? किसी का जिगर इतना बड़ा होगा कि वह कह सके कि स्कूल में उसके साथी उसे 'रौंदू' कहते थे।

पारिवारिक झूठ के दो मकसद होते हैं। पहला तो बच्चे के आचरण को नियमित रखना और दूसरा बच्चे को माता-पिता की श्रेष्ठता से प्रभावित करना। कितने पिता या शिक्षक बच्चे के इन प्रश्नों का ईमानदार जवाब देंगे: *क्या तुम कभी नशे में धुत्त हुए थे? तुमने कभी गाली दी?* बच्चों के प्रति यह भय ही वयस्कों को दोगला बनाता है।

बचपन में मैं अपने पिता को इस बात के लिए माफ नहीं कर पाया कि वे एक जंगली साँड से बचने के लिए एक दीवार फाँदकर भागे थे। बच्चे अपनी कल्पना में हमें हीरो बना डालते हैं और हम उस छवि को जीने की कोशिश में लगे रहते हैं। पर एक न एक दिन हम पकड़े जाते हैं। बच्चा एक दिन साफ-साफ यह देख पाता है कि उसके माता-पिता और शिक्षकों ने उससे झूठ बोला है, उसे छला है।

शायद हरेक युवा-जीवन में एक वह समय आता है जब माता-पिता की पुरातनपंथी होने के नाम पर खूब आलोचना की जाती है। यह समय तब आता है जब बच्चा माँ-बाप के असली रूप को पहचानने लगता है। यह तिरस्कार दरअसल बच्चे के काल्पनिक आदर्श माता-पिता की छवि टूटने से उपजता है। सपनों में बसी माँ-बाप की छवि और वास्तविक माँ-पिता में भारी अन्तर होता है। बाद में बच्चा फिर से संवेदनशीलता और समझ के साथ माता-पिता की ओर लौटता है। तब उसके मन में उन्हें लेकर कोई भ्रम नहीं होते। पर इस गलतफहमी से बचा जा सकता है अगर माता-पिता बच्चों को पहले से ही अपना सच बता दें।

आज तक लिखी गई सभी आत्मकथाएँ झूठ से भरी पड़ी हैं। हम इसलिए झूठ बोलते हैं क्योंकि हमें शुरू से नैतिकता के न पहुँच सकने वाले मानदण्डों के अनुसार जीने की बात सिखाई जाती है। हमारा प्रारम्भिक प्रशिक्षण हमें ताउम्र कमियों को छुपाने पर बाध्य करता है।

जो वयस्क बच्चों से झूठ बोलता है, फिर चाहे वह अप्रत्यक्ष झूठ ही क्यों न हो, उसमें बच्चों की मानसिकता की समझ नहीं होती। यही कारण है कि हमारी शिक्षा प्रणाली झूठ से पटी पड़ी है। हमारे स्कूल यह झूठ परोसते हैं कि आज्ञाकारिता और परिश्रम गुण हैं और इतिहास और भाषा शिक्षा है।

मेरे छात्र-छात्राओं में एक भी पक्का या आदतन झूठ बोलने वाला नहीं है। जब वे पहले-पहल समरहिल आते हैं तो वे झूठ का सहारा लेते हैं क्योंकि सच्चाई बयान करने से वे डरते हैं। जब उन्हें पता चलता है कि स्कूल में कोई थानेदारी नहीं होती तो झूठ की ज़रूरत नहीं रहती। बच्चों के झूठ डर से उपजते हैं। जब

भय गायब हो तो झूठ भी कमतर हो जाता है। मैं यह नहीं कहता कि झूठ पूरी तरह से गायब हो जाता है। कोई बच्चा आकर यह तो बता देगा कि उससे खिड़की का काँच टूट गया है पर यह नहीं कि उसने फ्रिज से खाना चुराया था या कोई औज़ार पार कर लिया था। झूठ के पूरी तरह से गायब होने की अपेक्षा करना असम्भव की अपेक्षा करना होगा।

बच्चों के काल्पनिक जगत के झूठ आज़ादी से दूर नहीं हो सकते। अक्सर माता-पिता इस छोटी-सी राई का पहाड़ बना डालते हैं। जब नन्हे जिमी ने आकर मुझे कहा कि डैडी ने उसके लिए एक सचमुच की रोल्स बेंटली गाड़ी भेजी थी तो मैंने जवाब दिया, “मुझे पता है। मैंने दरवाज़े पर गाड़ी खड़ी देखी थी। क्या शानदार गाड़ी है।” इस पर वह बोला, “चलो, हटो! मैं तो झूठमूठ ही कह रहा था।”

लोगों को यह बात विरोधाभास से भरी और तर्कहीन लग सकती है कि मैं झूठ बोलने और बेईमान होने में अन्तर करता हूँ। आप ईमानदार होकर भी झूठ बोल सकते हैं। मतलब यह कि जीवन की तमाम बड़ी बातों में ईमानदारी बरतने के बावजूद आप चन्द छोटी-छोटी बेईमानियाँ कर सकते हैं। हमारे कई झूठ दूसरों को ठेस न पहुँचाने के कारण बोले जाते हैं। सत्यवादिता अगर मुझे किसी को यह लिखने पर बाध्य करे कि “महोदय, आपका पत्र इतना लम्बा और उबाऊ था कि मैंने उसे पढ़ने तक की ज़हमत नहीं उठाई है” तो यह एक बुराई ही होगी। या आपको किसी भावी संगीतकार को यह कहने पर बाध्य करे कि “धन्यवाद, पर तुमने इस राग का खून कर दिया।” वयस्कों के कई झूठ दूसरों का हित ध्यान में रखकर बोले जाते हैं पर बच्चों के झूठ स्थानीय व व्यक्तिगत होते हैं। किसी बच्चे को जीवन भर के लिए झूठ बोलने वाला बनाना हो तो आप यह माँग करें कि वह हमेशा सच बोले और सच के सिवा कुछ न बोले।

हमेशा ईमानदार बने रहना कठिन ज़रूर है पर जब कोई यह तय कर ले कि मैं बच्चे से या उसके सामने झूठ नहीं बोलूँगा तो इसे निभाना इतना कठिन भी नहीं होता। केवल एक ही स्थिति में झूठ की अनुमति हो सकती है - जब सच किसी की जान खतरे में डालता हो। जैसे किसी गम्भीर रूप से बीमार बच्चे को यह न बताया जाए कि उसकी माँ की मृत्यु हो चुकी है।

हमारा अधिकांश मशीनी शिष्टाचार जीवन्त झूठ होता है। हम ‘धन्यवाद’ कहते हैं, पर मन में वह भाव नहीं होता। हम उन लोगों को भी नमस्कार करते हैं जिनके प्रति हमारे मन में कोई श्रद्धा नहीं होती।

झूठ बोलना एक छोटी कमज़ोरी है पर झूठ को जीना जीवन की बड़ी आपदा है। जो माता-पिता झूठ को जीते हैं वे बेहद खतरनाक होते हैं। एक सोलह साल के चोरी करने वाले लड़के के पिता ने कहा, “मैंने अपने बेटे से एक ही चीज़ चाही

कि वह हमेशा-हमेशा सच बोले।” वह व्यक्ति अपनी पत्नी से नफरत करता था और पत्नी से बदले में नफरत पाता था। यह बात *डार्लिंग* और *प्रियतम* जैसे शब्दों के पर्दे में छुपाई जाती थी। बेटा यह ताड़ चुका था कि घर में कुछ न कुछ गड़बड़ है। ऐसे व्यक्ति का बेटा बड़ा होकर आदतन झूठा होने के अलावा क्या हो सकता है जब उसका पारिवारिक जीवन एक जीता जागता झूठ हो। बच्चे को घर में कभी प्यार न मिला था। इसी कमी को पूरा करने का तरीका उसने चोरी में तलाशा था। कई बार बच्चे माता-पिता के झूठ की नकल में भी झूठ बोलते हैं। जिस घर में माता-पिता के बीच प्रेम न हो वहाँ बच्चे में ईमानदारी नहीं पनप सकती। पति-पत्नी के बीच का ढोंग बच्चे को छलता नहीं है। वह ऐसे में अवास्तविक कल्पना जगत की ओर धकेला जाता है। क्योंकि बच्चे कई बातें जानते न भी हों, तो भी *महसूस* जरूर करते हैं।

हमारे गिरजे यह झूठ प्रतिपादित करते हैं कि इन्सान पाप के साथ जन्मा है और उसे उद्धार की जरूरत है। हमारे कानून यह झूठ फैलाते हैं कि मानवता को सज़ा रूपी घृणा से सुधारा जा सकता है। डॉक्टर व दवा कम्पनियाँ यह झूठ प्रचारित करती हैं कि स्वास्थ्य अजैविक दवाएँ चूसने पर निर्भर करता है।

जिस समाज में झूठ का बोलबाला हो वहाँ माता-पिता के लिए ईमानदार बने रहना मुश्किल है। वो बच्चे से बोलते हैं, “यदि तुम हस्तमैथुन करते हो तो पागल हो जाओगे।” माता-पिता द्वारा बोले गए झूठ में इस बात की अनभिज्ञता भी है कि बच्चे को इससे कितना नुकसान होता है।

मेरा मानना है कि माता-पिता को झूठ बोलने की जरूरत नहीं है। बल्कि मैं तो कहना चाहूँगा कि उन्हें *कतई* झूठ नहीं बोलना चाहिए। कई घर बिना झूठ के सहारे भी चलते हैं जहाँ चमकदार आँखों वाले ईमानदार बच्चे फल-फूल रहे हैं। वहाँ माँ-बाप बच्चे के हरेक सवाल-बच्चे कैसे पैदा होते हैं से लेकर माँ की असली उम्र क्या है तक - का ईमानदार जवाब दे सकते हैं।

पिछले चालीस सालों में मैंने किसी भी छात्र से जानबूझकर झूठ नहीं बोला है। इसकी इच्छा भी नहीं हुई है। पर यह बात बिल्कुल सच नहीं है क्योंकि एक सत्र में मैंने एक भारी झूठ बोला था। एक लड़की ने, जिसका दुखद इतिहास मैं जानता था, एक पाउण्ड चुराया। चोरी सम्बंधी समिति के तीन लड़कों ने उसे ऑइसक्रीम और सिगरेट पर पैसे खर्चते देखा और उससे पूछताछ की। उसने उन्हें कहा, “मुझे नील ने पैसे दिए थे।” वे उसे मेरे पास लाए और पूछा, “क्या तुमने इसको एक पाउण्ड दिया था?” मैं स्थिति भाँप गया। मैंने बेफिक्री से कहा, “हाँ मैंने दिए थे।” अगर उस वक्त मैं उस झूठ का पर्दाफाश करता तो उस लड़की का मुझ पर से विश्वास ही उठ जाता। उसकी चोरी प्यार की चोरी का प्रतीक था। उसे

पकड़वाना उसे और पीछे धकेलना होता। मुझे सिद्ध करना था कि मैं पूरी तरह उसके पक्ष में हूँ। मुझे पता है कि अगर उसका परिवार ईमानदार और मुक्त होता तो यह स्थिति ही पैदा नहीं होती। मैंने एक उद्देश्य से, उपचार के उद्देश्य से झूठ ज़रूर बोला था। पर किसी दूसरी स्थिति में मैं झूठ बोलने की ज़रूरत तक नहीं करता।

जब बच्चे आज़ाद होते हैं तो उन्हें ज़्यादा झूठ बोलने की ज़रूरत नहीं पड़ती। हमारे गाँव का थानेदार एक बच्चे को यह कहते सुन चौंक गया, “नील, मुझसे बाहरी बैठक की खिड़की का काँच टूट गया है।” बच्चे अधिकतर झूठ खुद को बचाने के लिए बोलते हैं। जिस घर में भय पलता है वहाँ झूठ भी पनपता है। डर को निकाल फेंको तो झूठ भी मुरझा जाता है।

फिर भी एक तरह का झूठ है जो डर के कारण नहीं बोला जाता। यह है काल्पनिक जगत का झूठ - माँ, मैंने गाय जितना बड़ा कुत्ता देखा, उसी स्तर का झूठ है जैसा झूठ शौकिया मच्छीमार उस मछली के बारे में हाँकते हैं जो बंसी छुड़ाकर चली गई। दोनों उदाहरणों में बोला गया झूठ बोलने वाले के व्यक्तित्व को विस्तार देता है। इनको लेकर हमारी प्रतिक्रिया खेल में शरीक होने की ही होनी चाहिए। इसलिए जब बिली आकर कहता है कि उसके पिता के पास बड़ी सी रोल्स रॉयस है, तो मैं कहता हूँ, “मुझे पता है। खूबसूरत है ना? क्या तुम भी उसे चला सकते हो?” इस प्रकार के रूमानी झूठ शायद उन बच्चों को ज़रूरी नहीं लगते जो बचपन से स्वनिर्देशित होते हों। शायद उन्हें झूठी कहानियाँ गढ़कर अपनी हीनभावना से जूझने की ज़रूरत नहीं पड़ती हो।

नाजायज़ औलाद यह नहीं जानती कि उसके माता-पिता विवाहित नहीं थे, फिर भी वह यह महसूस ज़रूर करती है कि वह दूसरों से भिन्न हैं। पर अगर वह बच्चा सच्चाई जानता और उन लोगों के बीच पलता-बढ़ता जिन्हें उसके जन्म की सच्चाई से कोई फर्क नहीं पड़ता होता, तो स्थिति भिन्न होती। क्योंकि अहसास, ज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण है। अज्ञानी माता-पिता अपने झूठ और अपनी वर्जनाओं के कारण बच्चों को बेहद नुकसान पहुँचाते हैं। यह नुकसान दिमाग को नहीं दिल को पहुँचता है। *पर मनोरोग भी दिमाग से नहीं दिल से जन्मते हैं।*

जो माता-पिता बच्चे को गोद लेते हैं उन्हें बच्चे को यह सच्चाई बतानी चाहिए। जो सौतेली माँ बच्चे को यह विश्वास दिलाना चाहे कि बच्चा उसका ही बेटा या बेटी है, उसे बाद में परेशानी हो सकती है। किशोरावस्था में जब बच्चा अचानक छुपी सच्चाई से रूबरू होता है तो बाद के जीवन में उसे कई तरह के धक्के लगते हैं। बच्चों को द्वेषपूर्ण सच्चाई बताने को आतुर लोग तो हमेशा ही मौजूद होते हैं। ऐसे द्वेषी नाक-घुसेड़ने वालों से बच्चों की रक्षा करने के लिए यह तय कर लें कि

कभी खुद के या दूसरों के बच्चे से झूठ नहीं बोलेंगे। बच्चे के लिए हमारे सामने यही एक रास्ता है। अगर पिता मुजरिम रह चुके हों तो उसे बेटे को यह बताना चाहिए। यदि माँ दारू की दुकान में काम करने वाली महिला हो तो बेटे को पता होना चाहिए।

ज़ाहिर है कि उस वक्त सच्चाई हमारे लिए परेशानी का कारण बनती है जब कोई पूछता है, “माँ, हम सब भाई-बहनों में तुम सबसे ज़्यादा प्यार किसे करती हो?” अमूमन माता-पिता एक बेहद मीठा पर झूठा जवाब देते हैं “मैं तुम सबको बराबर प्यार करती हूँ।” सवाल का जवाब क्या होना चाहिए मैं नहीं जानता। शायद यहाँ झूठ बोलने का औचित्य भी है। क्योंकि अगर उससे जवाब में कहा जाए, “सबसे ज़्यादा प्यारा मुझे टॉमी है,” तो उसके परिणाम घातक हो सकते हैं।

जो पालक सेक्स के बारे में इमानदार हों वो किसी और चीज़ में बेइमान नहीं हो सकते। पुलिस वाले शैतान बच्चों को सज़ा देते हैं, कम उम्र में सिगरेट पीने से बच्चे की बढ़त रुक जाती है, माँ को जब माहवारी की तकलीफ हो तो सिर दर्द का बहाना करना, ऐसे ही लाखों-लाख झूठ घर-घर में बोले जाते हैं।

हाल में समरहिल की एक शिक्षिका लंदन की बालवाड़ी में पढ़ाने के लिए गईं। एक रोज़ एक नन्हीं बच्ची ने जानना चाहा कि बच्चे कहाँ से आते हैं। उसके स्पष्टीकरण के अगले दिन आधा दर्ज़न नाराज़ माताएँ स्कूल पहुँचीं। उन्होंने शिक्षिका को ‘गन्दी कुतिया’ जैसी गालियाँ दी और उसे हटाने की माँग की।

जो बच्चा आज्ञादी के वातावरण में पला-बढ़ा है वह जानबूझकर झूठ नहीं बोलता, क्योंकि इसकी ज़रूरत ही नहीं पड़ती। सज़ा के डर से खुद को बचाने की ज़रूरत उसे नहीं पड़ती। पर फिर भी वह कल्पना की तरंग में झूठ बोल सकता है। वह ऐसी घटनाओं के किस्से गढ़ सकता है, जो कभी घटी ही न हों।

जहाँ तक डर से उपजे झूठ की बात है, मैं एक ऐसी नई पीढ़ी को देख रहा हूँ जिसे किसी चीज़ को छुपाने की दरकार न होगी। यह पीढ़ी हर बात में स्पष्टवादी और ईमानदार होगी। उसे अपनी शब्दावली में ‘झूठ’ शब्द की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। झूठ बोलना हमेशा कायरता की निशानी होती है। और कायरता अज्ञान से उपजती है।

ज़िम्मेदारी

कई घरों में बच्चे के अहम का इसलिए दमन होता है क्योंकि माता-पिता हमेशा ही उसे शिशु मानते हैं। मैं चौदह साल की ऐसी लड़कियों को जानता हूँ जिनके माँ-बाप उन पर आग जलाने तक का भरोसा नहीं करते। माता-पिता अक्सर अपने

नेक इरादों के चलते बच्चों से ज़िम्मेदारियाँ दूर रखते हैं।

“बेटे स्वेटर साथ ले लेना, लगता है बारिश होगी।”

“रेल-लाइन के पास न जाना।”

“मुँह धो लिया है न?”

एक बार समरहिल में एक नई छात्रा आई। उसकी माँ ने मुझे बताया कि उसकी बड़ी गन्दी आदतें हैं। उसे नहाने के लिए दिन में दस बार कहना पड़ता है।

पर जिस दिन से बच्ची समरहिल में आई वह हर सुबह ठण्डे पानी से नहाती और सप्ताह में दो बार गर्म पानी से। उसके मुँह और हाथ हमेशा साफ रहते। सम्भव है घर में गन्दे रहने की शिकायत उसकी माँ की कल्पना हो। यह भी सम्भव है कि घर में उसके साथ होने वाले शिशु जैसे व्यवहार के विरोध में वह गन्दी रहती हो।

बच्चों को असंख्य ज़िम्मेदारियों की अनुमति दी जानी चाहिए। मॉण्टेसरी पद्धति से प्रशिक्षित बच्चे गरम सूप के बड़े-बड़े डोंगे ले जाते हैं। एक सात वर्षीय बच्चा हर तरह के औज़ार का उपयोग कर लेता है। छेनी, कुल्हाड़ी, आरा, चक्कू सभी कुछ। मैं ही अपनी उँगलियाँ उनसे ज़्यादा बार काटता हूँ।

परन्तु दायित्व और ज़िम्मेदारी को एक मानने की भूल भी नहीं करनी चाहिए। दायित्व भाव, अगर सीख सके तो बच्चा अपनी जिन्दगी में बाद में सीख जाता है। *दायित्व* के साथ तमाम खतरनाक स्थितियों का विचार उठता है। मैं हमेशा उन औरतों की कल्पना करने लगता हूँ जो अपने वृद्ध माता-पिता की देखभाल के दायित्व के बोझ के कारण जीवन और प्रेम से वंचित रह गईं। मैं उन दम्पतियों के बारे में सोचता हूँ जो एक-दूसरे से प्रेम करना बन्द कर चुके हैं पर अनिच्छा और कष्ट के बावजूद दायित्व बोध के चलते साथ-साथ लिए जा रहे हैं। छात्रावासों और ग्रीष्म शिविरों में रहने वाले कई बच्चे घर पर पत्र लिखना अपना दायित्व मानते हैं। इस दायित्व से उन्हें खीझ आती है खासकर जब उन्हें हर इतवार की दोपहर पत्र लिखने बैठना पड़े।

यह एक भ्रांति है कि ज़िम्मेदारी उम्र के हिसाब से होनी चाहिए। इसी भ्रांति के चलते हम नौजवानों का जीवन उन कमज़ोर बूढ़ों को सौंप देते हैं जिन्हें हम राजनेता कहते हैं। उन्हें अगर निश्चल नेता कहें तो शायद बेहतर हो। यह भ्रांति भी प्रचलित है कि परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने से छोटे का संरक्षक और मार्गदर्शक होता है। माता-पिता यह समझते ही नहीं कि उनका छह वर्षीय बच्चा ऐसे वाक्यों का तर्क नहीं समझ सकेगा, “तुम नहीं से बड़ी हो न। अब तुम्हें अपनी उम्र में इतना तो समझना ही चाहिए कि उसे सड़क पर दौड़ने नहीं दिया जा सकता है।”

जिस ज़िम्मेदारी का सामना करने के लिए बच्चा तैयार न हो उसे निभाने को बच्चे से नहीं कहना चाहिए। न ही उस पर ऐसे निर्णय डालने चाहिए जिन्हें लेने लायक वह न हो। हमें हमेशा सामान्य-बुद्धि काम में लेनी चाहिए।

हम समरहिल में अपने पाँच साल के छात्र-छात्राओं से यह नहीं पूछते हैं कि उन्हें अग्निशामकों की ज़रूरत है या नहीं। हम एक साल के बच्चे को यह तय नहीं करने देते कि बुखार के बावजूद वह बाहर जाना चाहता है या नहीं। न ही हम किसी थके-माँदे बच्चे से पूछते हैं कि वह अब सोना चाहता है या नहीं। न ही कोई बीमार बच्चे से चिकित्सक द्वारा बताई गई दवाएँ खिलाने की अनुमति हम चाहते हैं।

ज़रूरत पड़ने पर बच्चे पर सत्ता का उपयोग - आवश्यक सत्ता का उपयोग - इस विचार के विरुद्ध नहीं जाता कि बच्चे पर जितनी उसकी उम्र में वह ले सकता हो, उतनी ज़िम्मेदारियाँ डालनी चाहिए। बच्चे को ज़िम्मेदारियाँ सौंपते समय माता-पिता को अपनी अन्तरात्मा से सलाह करनी चाहिए। उन्हें पहले खुद को जाँचना चाहिए। उदाहरण के बतौर जो माता-पिता बच्चों को खुद अपने कपड़े नहीं चुनने देते, वे अमूमन इस डर से त्रस्त होते हैं, कि कहीं वह माता-पिता की सामाजिक स्थिति पर बट्टा न लगा दे।

जो माता-पिता अपने बच्चों की पढ़ने की किताबों, सिनेमा देखने या मित्रों को सेंसर करते हैं वे अपने विचार अपने बच्चों पर लादते हैं। वे अमूमन खुद को यह तर्क दे लेते हैं कि बच्चे के लिए क्या अच्छा या बुरा है यह वे ही तय कर सकते हैं। जबकि दरअसल सच्चाई अक्सर यह होती है कि उनके मन में अपनी सत्ता का उपयोग करने की लालसा होती है।

जहाँ तक सम्भव हो माता-पिता को बच्चे पर ज़िम्मेदारियाँ डालनी चाहिए। हाँ, ज़िम्मेदारियाँ सौंपते समय उसकी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखना चाहिए। यही एक मात्र तरीका है जिससे वे बालक में आत्मविश्वास जगा पाएँगे।

आज्ञा पालन और अनुशासन

एक विधर्मी सवाल अक्सर सिर उठाता है: किसी बच्चे को आज्ञा क्यों माननी चाहिए? मेरा जवाब है: इसलिए ताकि वह वयस्कों की सत्ता की लालसा पूरी करे। अन्यथा बच्चा आज्ञा क्यों मानेगा भला।

आप कहेंगे, “अगर बच्चा जूते पहनने की आज्ञा न माने तो उसके पैर गीले हो सकते हैं। अगर वह अपने बाप की डाँट न सुने तो पहाड़ी से नीचे गिर सकता

है।” जी हाँ, ज़रूर। यह बात बिल्कुल सही है कि ज़िन्दगी और मौत के सारे मसलों में बच्चे को आज्ञा पालन करना ही चाहिए। पर बच्चे को हम कितनी बार जीवन-मरण के मसले पर कहा न मानने की सज़ा देते हैं? शायद ही कभी। उस वक्त हम उसे गले से लगाते हैं। कहते हैं, “मेरी आँख का तारा! भगवान का लाख-लाख शुक्र है उसने तुम्हें बचा लिया!” बच्चे को अमूमन सज़ा मिलती है छोटी-छोटी बातों पर।

ऐसा घर भी ठीक से चल सकता है जहाँ आज्ञा पालन की ज़रूरत ही न हो। अगर मैं किसी बच्चे से कहूँ, “चलो किताबें निकालो और अँग्रेज़ी का पाठ पढ़ो” तो सम्भव है वह मना करे क्योंकि अँग्रेज़ी में उसकी रुचि ही न हो। ऐसे में आज्ञा न मानना महज़ उसकी अपनी इच्छाओं की अभिव्यक्ति है। ऐसी इच्छाएँ न किसी दूसरे की बाधा बनती हैं और न ही किसी को चोट पहुँचाती हैं। पर अगर मैं कहूँ, “बाग के बीच वाले हिस्से में बीज बोए गए हैं। उस पर कोई दौड़ेगा नहीं।” सभी बच्चे इस आज्ञा का पालन करते हैं। ठीक उसी तरह जैसे डेरिक की यह आज्ञा कि, “मुझसे पूछे बिना कोई मेरी गेंद को हाथ नहीं लगाएगा।” आज्ञा पालन असल में एक दो-तरफा, लेन-देन का रिश्ता है। समरहिल में यदाकदा स्कूल की आमसभा में बनाए गए नियम तोड़े भी जाते हैं। ऐसे में बच्चे खुद ही उचित कार्यवाही करते हैं। फिर भी समरहिल सामान्यतः बिना सत्ता और आज्ञापालन के बखूबी चलता है। हरेक बच्चा वह जो चाहे करने को स्वतंत्र है, *बशर्ते वह दूसरों की आज्ञादी में बाधा न डालता हो।* और यह ऐसा लक्ष्य है जो किसी भी समुदाय में हासिल किया जा सकता है।

स्व-नियंत्रण के तहत घर में कोई सत्ता नहीं होती। मतलब वहाँ कोई ऊँची आवाज़ में यह घोषणा नहीं करता, “मैं कह रहा हूँ ना। तुम्हें मेरी बात माननी होगी।” ऐसे व्यवहार में दरअसल सत्ता ही तो होती है। उसे आप चाहें तो सुरक्षा के लिए देखभाल या वयस्क ज़िम्मेदारी का नाम दे सकते हैं। पर ऐसी सत्ता कहीं आज्ञा पालन की माँग करती है तो कहीं आज्ञा का पालन भी करती है। इसलिए मैं अपनी बेटी से कह सकता हूँ, “दीवानखाने में पानी और मिट्टी तुम नहीं ला सकतीं” और मेरा यह कहना उसके यह कहने जैसा है, “पापा, मेरे कमरे से निकलो। मुझे अभी तुम्हारी मौजूदगी नहीं चाहिए।” और उसकी इस इच्छा का पालन मैं बिना किसी प्रतिवाद के करता हूँ।

माता-पिता की यह इच्छा भी सज़ा जैसी ही है कि बच्चे को जितना वह चबा पाए उससे ज़्यादा बड़ा कौर नहीं लेना चाहिए। क्योंकि सच में यह शब्दशः सच है कि बच्चे की आँखें उसके पेट से कहीं बड़ी होती हैं और वह थाली में उतना परोस बैठता है जितना वह खा नहीं सकता है। बच्चे को थाली में रखा सब कुछ खाने पर बाध्य करना गलत है। अच्छे माता-पिता होने का मतलब है कि अपने बच्चे

के साथ तादात्म्य, उसकी मंशाओं को समझना, बिना किसी छुपे मकसद या नाराज़गी के उसकी सीमाओं को पहचानना।

एक माँ ने मुझे पत्र डाला कि वे अपनी बच्ची को आज्ञाकारी बनाना चाहती हैं। इधर मैं उनकी बेटी को सिखा रहा था कि वह खुद की आज्ञा का पालन करे। माँ को लगता है कि वह कहा नहीं मानती, पर मुझे वह हमेशा आज्ञाकारी लगती है। वह पाँच मिनट पहले मेरे कमरे में कुत्तों और उनके प्रशिक्षण पर बहस करने आई थी। मैंने कहा, “अभी फूटो। इस वक्त मैं लिखने में व्यस्त हूँ।” वह बिना एक चूँ के लौट गई।

आज्ञाकारिता एक सामाजिक शिष्टाचार है। वयस्कों को बच्चों से आज्ञाकारिता पाने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। यह भीतर से उपजना चाहिए, बाहर से नहीं लादना चाहिए।

अनुशासन किसी लक्ष्य तक पहुँचने का माध्यम है। सेना का अनुशासन लड़ाई में कुशलता के लिए होता है। ऐसा अनुशासन व्यक्ति को किसी मकसद के अधीन बना डालता है। अनुशासित देशों में लोगों की जान की कोई कीमत नहीं होती।

पर एक दूसरी तरह का अनुशासन भी होता है। एक वाद्यवृन्द में साज़ बजाने वाले संगीत निर्देशक की आज्ञा का पालन करते हैं क्योंकि उनकी भी एक उम्दा प्रदर्शन की उतनी ही इच्छा होती है जितनी उनके निर्देशक की। पर फौज का जवान सावधान होकर जब सलाम बजाता है तो वह सेना की कार्यकुशलता को लेकर चिन्तित नहीं होता। सभी सेनाएँ भय से शासित होती हैं और सैनिक यह जानता है कि अगर वह हुकम नहीं मानेगा तो उसे सज़ा मिलेगी। अगर शिक्षक अच्छे हों तो स्कूली अनुशासन वाद्यवृन्द के अनुशासन-सा भी हो सकता है। परन्तु ज़्यादातर वह सेना के अनुशासन जैसा ही नज़र आता है। यही बात घर पर भी लागू होती है। एक खुश घर वाद्यवृन्द-सा होता है, उसमें समूह में साझेदारी की भावना होती है। पर दुखी घर सेना के बैरकों जैसा होता है जहाँ नफरत और अनुशासन का राज़ होता है।

अजीब बात यह है कि सहयोगी अनुशासन वाले घर अक्सर सैनिक अनुशासन वाले स्कूलों को स्वीकार लेते हैं। इन स्कूलों में लड़के शिक्षकों से पिटते हैं - वे लड़के भी जो घरों में कभी नहीं पिटे। हमारी दुनिया के परे अगर कोई अधिक पुराना और बुद्धिमान ग्रह हो तो वहाँ का निवासी यह सुनकर धरती के निवासियों को बेवकूफ ही समझेगा कि हमारी प्रारम्भिक शालाओं में बच्चों को जोड़ या वर्तनी की गलतियाँ करने पर पीटा जाता है। जब मानवतावादी माता-पिता पिटाई की वारदातों की शिकायतें ले अदालत पहुँचते हैं, तो ज़्यादातर अदालतें सज़ा देने वाले शिक्षक का ही पक्ष लेती हैं।

माता-पिता कल ही शारीरिक दण्ड बन्द करवा सकते हैं, अगर वे सच में ऐसा चाहें। ज़ाहिर है कि अधिकांश माता-पिता यह चाहते ही नहीं। यह व्यवस्था, दरअसल उन्हें भी रास आती है। इसके चलते ही तो उनके बेटा-बेटी अनुशासित होते हैं। और तो और इससे बच्चों के मन में बसी नफरत भी बड़ी सिफत से शिक्षकों की ओर मुड़ जाती है। शिक्षक माता-पिता के लिए किराए का टट्टू है, जो उनके गन्दे काम करता है। यह व्यवस्था माता-पिता को इसलिए पसन्द आती है क्योंकि उन्हें भी कभी इच्छानुसार जीने और प्यार करने नहीं दिया गया था। उन्हें भी सामूहिक अनुशासन का गुलाम बनाया गया था और वे बेचारे कभी आज्ञादी की कल्पना तक न कर पाए थे।

यह सच है कि घर में अनुशासन की ज़रूरत है। सामान्यतः यह ऐसा अनुशासन है जिससे परिवार के हरेक सदस्य की आज्ञादी की रक्षा हो सके। उदाहरण के लिए मैं अपनी बेटी ज़ोई को अपने टाइपराइटर से खेलने नहीं देता पर एक खुश परिवार में इस तरह का अनुशासन खुद-ब-खुद आ जाता है। वहाँ का जीवन आपसी लेन-देन पर टिका होता है। माता-पिता और बच्चे दोस्त होते हैं, सहकर्मी होते हैं।

पर दुखी परिवार में अनुशासन का उपयोग घृणा के अस्त्र के रूप में होता है और आज्ञा पालन एक अनुकरणीय आदर्श बन जाता है। वहाँ बच्चे चल-सम्पत्ति जैसे होते हैं, जिनपर माता-पिता का मालिकाना हक हो और जिन्हें हमेशा अपने मालिक के लिए यश कमाना हो। मेरा मानना है कि जो माता-पिता अपने बच्चे की पढ़ाई-लिखाई को लेकर बेहद व्यग्र रहते हैं, वे स्वयं को ज़िन्दगी में असफल मानने वाले होते हैं। उन्हें लगता है कि शिक्षा के अभाव के कारण वे पीछे रह गए हैं।

जो माता-पिता खुद को अस्वीकार करते हैं वे ही कठोर अनुशासन में विश्वास करते हैं। जो पिता स्वयं भद्दे मज़ाक करता है या किस्से सुनाता है, वही अपनी बेटी को टट्टी या पाद की कहानी सुनाने पर डपटता है। जो माँ खुद झूठ बोलती है वह अपने बेटे को झूठ बोलने के लिए पीटती है। मैंने मुँह में पाइप टूँसे पिता देखे हैं जो अपने बेटे को सिगरेट पीने पर धुनकर रख देते हैं। मैंने एक पिता को अपने बारह वर्षीय बेटे को यह कहकर ठोकते सुना, “गाली बकता है? हरामी! मैं तेरी गाली-वाली भुला दूँगा।” जब मैंने उन्हें टोका तो उनका जवाब था, “मेरी बात और है। मैं गाली दूँ तो दूँ, पर वह तो अभी बच्चा है।”

घर में घोर अनुशासन खुद से नफरत का परिचायक है। जो वयस्क ताउम्र श्रेष्ठता पाने की कोशिश करते रहे पर उसे पाने में असफल रहे, वे ही बाद में अपने बच्चों के माध्यम से उसे तलाशने में जुटते हैं। और यह महज़ इसलिए, क्योंकि वे प्यार करना ही नहीं जानते। महज़ इसलिए, क्योंकि वे आनन्द से उतना ही डरते हैं मानो वह शैतान हो। दरअसल शैतान ईजाद भी इसलिए किया गया होगा क्योंकि

शैतान वह है जिसके पास सबसे मीठा गाना है, जीवन, आनन्द और सेक्स से प्यार करता है। उत्कृष्टता का लक्ष्य है शैतान पर विजय पाना। और इसी लक्ष्य से उपजता है रहस्यवाद, अतार्किकता, धर्म और तपस्या। शरीर को सूली पर चढ़ाना भी इसी की देन है। और यह पिटाई, सम्भोग-त्याग और नपुंसकता का रूप धारण कर लेता है।

बृहद रूप में घर के कठोर अनुशासन का लक्ष्य है बन्ध्याकरण, जीवन का बन्ध्याकरण। कोई भी आज्ञा पालक बच्चा एक स्वतंत्र आदमी या औरत नहीं बन सकता। हस्तमैथुन के लिए दण्डित बच्चे कभी पूर्ण रूप से मैथुन में सक्षम नहीं हो सकते।

माता-पिता चाहते हैं कि बच्चे वह बनें जो वे खुद नहीं बन पाए। केवल इतना ही नहीं वे यह भी नहीं चाहते कि बच्चों को उनके जीवन में उतना आनन्द मिल सके जितना उन्हें खुद नहीं मिल पाया था। जो माता-पिता स्वयं जीवन्त नहीं हैं वे अपने बच्चों को भला क्यों जीवन्त रहने देंगे। उनके मन में भविष्य की दुश्चिन्ताएँ बसती हैं। वे सोचते हैं कि अनुशासन बच्चों को बचा लेगा। स्वयं में आस्था की यही कमी उसे एक ईश्वर में विश्वास करना भी सिखाती है। ऐसे ईश्वर में जो अच्छाई और सत्य को ज़बरदस्ती लादता है। दरअसल अनुशासन धर्म की ही एक शाखा मात्र है।

समरहिल व अन्य स्कूलों में अन्तर यही है कि समरहिल में हम बच्चे के व्यक्तित्व में आस्था रखते हैं। हम मानते हैं कि अगर टॉमी को डॉक्टर बनना है तो वह स्वेच्छा से प्रवेश परीक्षाएँ देगा। अनुशासित स्कूल यह मानकर चलते हैं कि अगर उसे ठोका-पीटा न जाए, उस पर तयशुदा घण्टों तक पढ़ने का दबाव न बनाए रखा जाए, तो फिर टॉमी कभी भी डॉक्टर नहीं बन सकता है।

मैं यह स्वीकारता हूँ कि सामान्यतः स्कूल से अनुशासन हटाना, घर से उसे हटाने से कहीं आसान है। समरहिल में अगर कोई सात साल का बच्चा सबकी नाक में दम करे तो पूरा समुदाय उसकी आलोचना करता है। और क्योंकि सबको ही दूसरों का अनुमोदन चाहिए होता है इसलिए बच्चा अपने व्यवहार को सुधारना सीखता है। अनुशासन की ज़रूरत ही नहीं पड़ती।

घर में जहाँ तमाम भावनात्मक घटक व दूसरी परिस्थितियाँ भी जुड़ी होती हैं, वहाँ चीज़ें इतनी आसान नहीं होतीं। एक गृहणी जो खाना बनाने में उलझी हो, वह अपने चिड़चिड़े बच्चे की सामाजिक निन्दा नहीं कर सकती और न ही थका-माँदा घर लौटा पिता अपनी रौंदी हुई क्यारी को देख अपना पारा सम्भाल सकता है। मेरा कहना सिर्फ़ इतना है कि जिस घर में शुरू से बच्चे स्व-नियंत्रित होते हैं, वहाँ अनुशासन की ज़रूरत पैदा ही नहीं होती है।

कुछ साल पहले मैं अपने मित्र विलहैल्म राईख के मेन स्थित घर गया था। उसका बेटा पीटर उस वक़्त तीन साल का था। घर के ठीक सामने एक गहरा तालाब था। विलहैल्म और उसकी पत्नी ने बच्चे को समझा रखा था कि उसे तालाब की ओर नहीं जाना है। पीटर का अपने माता-पिता के प्रति पूरा विश्वास था क्योंकि उसके पालन-पोषण में घृणा का स्थान था ही नहीं। वह कभी पानी की ओर नहीं गया। उसके माता-पिता भी *जानते थे* कि उन्हें बच्चे को लेकर बहुत चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है। डर और सत्ता में विश्वास करने वाले माता-पिता तालाब के किनारे अगर रहते तो उनका जीवन ऐसा होता मानो सिर पर तलवार लटकी हो। बच्चों को माँ-बाप से इतना झूठ सुनना पड़ता है। जब उन्हें कहा जाता है कि गहरा पानी उनके लिए खतरनाक हो सकता है, वे उसका विश्वास तक नहीं करते। उनके मन में एक विद्रोह जनित इच्छा जागती है कि पानी की ओर ज़रूर जाया जाए। अनुशासित बच्चा अपनी घृणा जताने के लिए माँ-बाप को परेशान करता है। बच्चों की बदतमीज़ी अक्सर उसके साथ किए गए दुर्यवहार का सबूत होती है। अगर घर में प्यार हो तो एक औसत बच्चा अपने माता-पिता के अनुभवों और ज्ञान पर कान देता है। परन्तु अगर घर में नफरत हो तो वह कुछ नहीं स्वीकारता। या सभी बातों को नकारात्मक रूप में लेता है। ऐसा बच्चा तोड़-फोड़ करने वाला ढीठ और बेईमान होता है।

बच्चे बुद्धिमान होते हैं। वे प्रेम के बदले प्रेम देते हैं और घृणा के बदले घृणा। वे समूह का अनुशासन आसानी से स्वीकार लेते हैं। मेरा मानना है कि बुराई मानवीय स्वभाव का मूलभूत हिस्सा नहीं है। ठीक उसी तरह जैसे वह किसी खरगोश या शेर के स्वभाव का हिस्सा नहीं होती। पर अगर किसी अच्छे कुत्ते को लगातार बाँधे रखो तो वह खूँखार बन जाता है। इसी तरह अगर किसी अच्छे और मिलनसार बच्चे को अनुशासित करो तो वह बुरा, कपटी और घृणा करने वाला बन जाता है। दुख की बात यह है कि अधिकतर लोग यह मानते हैं कि कोई खराब बच्चा खराब बनना चाहता है। उनका विश्वास यह होता है कि भगवान या मोटे डण्डे की मदद से बच्चे को अच्छा और सही रास्ता चुनने की ताकत मिल सकेगी। और अगर वह इस ताकत के इस्तेमाल से इन्कार करता है तो वे यह सुनिश्चित करेंगे कि बच्चा अपने दुराग्रह की सज़ा भुगते।

इस तरह से देखें तो पुराने स्कूल की भावना अनुशासन का प्रतीक है। एक बड़े लड़कों के स्कूल के प्रधानाचार्य से कुछ समय पहले सवाल किया गया था कि उनके स्कूल के बच्चे कैसे हैं? उनका जवाब था, “ऐसे जो बिना विचारों और आदर्शों के स्कूल से निकलते हैं। वे किसी भी युद्ध में तोप का शिकार बनने को तैयार रहते हैं। पर वे ठहर कर यह विचार तक नहीं करते कि युद्ध लड़ा किसलिए जा रहा है? वे स्वयं क्यों लड़ रहे हैं?”

पिछले साठ सालों में मैंने किसी बच्चे पर हाथ नहीं उठाया है। पर जब मैं एक नौजवान शिक्षक था तब मैं बिना सोचे-विचारे अपना हाथ उठा बैठता था। अब मैं किसी बच्चे को छूता तक नहीं क्योंकि मैं जानता हूँ कि पिटाई के क्या खतरे हैं। मैं पिटाई के पीछे छुपी नफरत की बात भी आज बखूबी समझता हूँ।

समरहिल में हम बच्चों को वयस्कों के समान मानते हैं। हम बच्चे के व्यक्तित्व और उसके चरित्र का भी कमोबेश सम्मान करते हैं। ठीक वैसे ही जैसे हम किसी वयस्क के व्यक्तित्व और चरित्र का सम्मान करते हैं। हम चचा बिल से यह नहीं कहते हैं कि उन्हें चाहे गाजर पसन्द हो या न हो, परन्तु थाली में परोसी पूरी सब्जी उन्हें खत्म करनी ही है। न हम पापा से कहते हैं कि खाने बैठने से पहले वे हाथ ज़रा ठीक से धो आँ। बच्चों को लगातार टोकने से उनमें हीन भावना पनपती है। हम उसके स्वाभाविक आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाते हैं। यह तुलनात्मक मूल्यों का प्रश्न है। आखिर इसमें गलत क्या है अगर टॉमी बिना हाथ धोए खाना खाने बैठ जाता है?

गलत तरह के अनुशासन में पले बच्चे ताउम्र एक झूठ जीते हैं। वे कभी अपना सहज रूप नहीं धर पाते। वे स्थापित रीति-रिवाज़ों और व्यवहार के गुलाम बन जाते हैं। वे बिना सवाल उठाए इतवार को चर्च जाते वक्त बेवकूफी भरे कपड़े पहनते हैं। इसलिए क्योंकि अनुशासन की जड़ में आलोचना का भय होता है। पर खेलने वालों से दण्ड मिलना डर की बात नहीं होती। लेकिन अगर कोई वयस्क सज़ा दे तो डर स्वतः पैदा होता है। क्योंकि वे बड़े होते हैं, ताकतवर होते हैं और उन्हें देख बच्चे सकते में आ जाते हैं। इस सबसे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि वे डरावने पिता या डरावनी माँ का भी प्रतीक होते हैं।

चालीस सालों में मैंने बराबर बदमिज़ाज, बदतमीज़ और नफरत से भरे बच्चों को समरहिल के आज़ाद वातावरण में कदम रखते देखा है। हरेक बच्चे में क्रमशः एक बदलाव आते भी देखा है। समय के साथ ये बिगड़ैल बच्चे खुशमिज़ाज़, मेलजोल रखने वाले, ईमानदार और दोस्ताना व्यवहार करने वाले बच्चों में बदले हैं।

मानवता का भविष्य नए माता-पिता के हाथों में है। अगर वे अपने बच्चों पर निरंकुश अनुशासन लादकर अपने बच्चे की सारी जीवन ऊर्जा खत्म कर डालते हैं तो अपराध, युद्ध और दुख ही पनपेगा। अगर वे अपने अनुशासन प्रिय माता-पिता के पदचिन्हों पर चलते रहेंगे तो वे अपने बच्चों का स्नेह और प्यार खो देंगे। जिससे कोई डरे, उसे प्यार कैसे कर सकता है?

मनोरोग माता-पिता के अनुशासन से जन्मता है। अनुशासन, जो माता-पिता के प्रेम का विलोम है। घृणा, सज़ा और दमन के वातावरण में अच्छी मानवता नहीं पनपती। इसका एक ही रास्ता है, वही प्यार का।

बचपन की अधिकांश समस्याओं का समाधान ऐसे प्रेममय वातावरण से ही हो सकता है जिसमें माता-पिता का अनुशासन न हो। मैं चाहता हूँ कि यह बात सभी माता-पिता समझें। अगर उनके बच्चों को घर में प्यार और अनुमोदन का वातावरण मिलेगा तो बदमिज़ाजी, घृणा और नष्ट करने की इच्छा कभी नहीं जन्मेगी।

इनाम और सज़ा

बच्चे को पुरस्कृत करने में उतना खतरा नहीं है जितना उसे सज़ा देने में है। पर पुरस्कार देना बच्चे के मनोबल को तोड़ने का सूक्ष्म तरीका है। पुरस्कार सतही होते हैं और नकारात्मक भी। किसी काम को करने के लिए पुरस्कार देने का अर्थ यह भी निकलता है कि वह काम अपने-आप में करने लायक नहीं है।

कोई भी कलाकार विशुद्ध रूप से पैसे के लिए काम नहीं करता। उसका एक पुरस्कार होता है - रचनात्मकता का सुख। साथ ही पुरस्कार स्पर्धात्मक प्रणाली की सबसे खराब बातों को उभारते हैं। दूसरे को पछाड़ना एक घटिया उद्देश्य है।

पुरस्कार देने का बच्चों पर बुरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इससे उनमें जलन पैदा होती है। अक्सर कोई लड़का अपने छोटे भाई को इसलिए नापसन्द करने लगता है क्योंकि उसकी माँ टिप्पणी करती है, “तुमसे अच्छी तरह तो तुम्हारा छोटा भाई ही यह काम कर लेता है।” बच्चे के लिए माँ की यह टिप्पणी छोटे भाई को बेहतर होने के नाम पर दिए गए पुरस्कार के समान ही होती है।

जब हम चीज़ों में बच्चों की स्वाभाविक रुचियों पर विचार करते हैं तो हमें सज़ा और पुरस्कार दोनों के खतरे साफ नज़र आते हैं। पुरस्कार और दण्ड बच्चों पर ऐसा दबाव डालते हैं कि वह जबरन किसी चीज़ में रुचि लेने लगता है। पर वास्तविक रुचि ही पूरे व्यक्तित्व की जीवन ऊर्जा होती है और वह रुचि बिल्कुल स्वतःस्फूर्त होती है। किसी का ध्यान ज़बरदस्ती आकर्षित किया जा सकता है क्योंकि ध्यान देना सचेत होकर किया जाने वाला काम है। यह पूरी तरह सम्भव है कि श्यामपट पर खिंची रेखाओं पर ध्यान देते हुए भी किसी की रुचि डाकुओं में बनी रहे। ध्यान तो ज़बरदस्ती खींचा जा सकता है पर रुचि जबरन पैदा नहीं की जा सकती है। उदाहरण के लिए कोई मुझे टिकट-संग्रहण में रुचि लेने पर बाध्य नहीं कर सकता है। मैं खुद भी अपने आपको इसमें रुचि लेने पर बाध्य नहीं कर सकता। फिर भी पुरस्कार और दण्ड दोनों ही रुचि को बाध्य करने की कोशिश करते हैं।

मेरा एक बड़ा-सा बगीचा है। जिस समय खरपतवार निकालने का मौसम आता है, उस वक्त नन्हें लड़के और लड़कियों की टोली मेरे लिए बेहद मददगार सिद्ध

हो सकती हैं। यह सम्भव है कि मैं उन्हें आज्ञा दे डालूँ कि वे मेरे काम में मेरी मदद करें। पर आठ-नौ-दस साल की उम्र में खरपतवार निकालने की आवश्यकता पर उन्होंने अपनी राय नहीं बनाई होती। इस काम में उनकी कतई रुचि नहीं होती। एक बार मैं छोटे लड़कों के एक झुण्ड के पास गया और पूछा, “कोई खरपतवार निकालने में मदद करना चाहेगा?” सबने मना कर दिया।

मैंने जानना चाहा, “क्यों?” तुरन्त जवाब मिला, “बिल्कुल उबाऊ काम है।” “उन्हें उगने दो ना।” “मैं फिलहाल शब्द-पहेली में व्यस्त हूँ।” “मुझे बागवानी नापसन्द है।”

मुझे भी खरपतवार निकालना उबाऊ लगता है, मुझे भी शब्द-पहेलियाँ बूझना पसन्द है। पर बच्चों के प्रति इन्साफ करना हो तो कहना होगा कि आखिर खरपतवार निकालने से उनका क्या लेना-देना? आखिर बगीचा मेरा है। जब मिट्टी से मटर का पौधा निकलता है तो गर्व से मेरा ही सीना फूलता है। साग-सब्जियाँ खरीदने पर मेरा ही खर्च कम होता है। संक्षेप में बाग मेरे स्वार्थ से जुड़ा है। पर जब बच्चों की इसमें रुचि ही नहीं है तो मैं ज़बरदस्ती रुचि कैसे पैदा कर सकता हूँ? मेरे सामने अकेला रास्ता यह है कि मैं उन्हें हर घण्टे के हिसाब से मज़दूरी दूँ। तब ही हम दोनों एक स्तर पर होंगे। मेरी रुचि बागवानी में और उनकी रुचि कुछ जेब खर्च कमाने में होगी।

रुचि मूलतः अहम से जुड़ी होती है। चौदह वर्षीय मॉड अक्सर खरपतवार निकालने में मेरी मदद करती है। यद्यपि उसका कहना है कि उसे इससे घृणा है। पर वह मुझसे नफरत नहीं करती है। वह इसलिए खरपतवार निकालती है ताकि वह मेरे साथ कुछ समय बिता सके। उस वक्त खरपतवार निकालने से उसका स्वार्थ भी सधता है।

जब डेरिक, जिसे खरपतवार निकालना नापसन्द है, खुद आगे बढ़कर अपनी सेवाएँ देता है तो मुझे मालूम होता है कि वह फिर से मेरा जेबी चाकू मुझसे माँगेगा। उसकी वही रुचि है।

अगर कोई पुरस्कार हो भी तो वह आत्मगत होना चाहिए। उस काम को करने में आत्म-संतुष्टि का। दुनिया में तमाम अरुचिकर काम होते हैं: कोयला खोदकर निकालना, इक्यावन नम्बर के बोल्ट में पचास नम्बर का नट बैटाने की कोशिश करना, नालियाँ खोदना, संख्याएँ जोड़ना। दुनिया ऐसे कामों से भरी पड़ी है जिन्हें करने में कोई मज़ा आ ही नहीं सकता। लगता है कि हम अपने स्कूलों को जीवन की नीरसता के अनुकूल बनाना चाहते हैं। हम अपने बच्चों का ध्यान उन तमाम विषयों पर ज़बरदस्ती केन्द्रित करवाते हैं, जिनमें उनकी कोई रुचि न हो, या

दरअसल हम उन्हें उन कामों के लिए अनुकूलित करते हैं जिन्हें करने में उन्हें कोई मज़ा न आए।

अगर केट लिखना या गिनना सीखती है तो इसलिए क्योंकि उसकी इन विषयों में रुचि है। इसलिए नहीं कि अगर उसके अच्छे अंक आएँगे तो उसे साइकिल मिलेगी, या माँ बड़ी खुश होगी।

एक माँ ने अपने बेटे को वादा किया कि अगर वह अँगूठा चूसना बन्द कर देगा तो उसे रेडियो मिलेगा। किसी भी बच्चे के लिए यह कितनी अन्यायपूर्ण दुविधा उपस्थित करता है। अँगूठा चूसना एक अवचेतन रूप से किया गया काम है, जो बच्चे की इच्छाशक्ति के बस में नहीं है। सम्भव है कि बच्चा बड़ी बहादुरी से सचेत हो इस आदत पर काबू पाने की कोशिश करे। पर वह इसमें बार-बार असफल होगा। परिणाम यह होगा कि उसके मन में लगातार अपराधबोध की भावना जागेगी और वह दुखी होता जाएगा।

भविष्य को लेकर माता-पिता के मन में जो भय है वह उस वक्त बड़ा खतरनाक बन उठता है जब उसमें घूस का सुझाव जुड़ जाता है। “जब तू पढ़ना सीख लेगा तो डैडी तुझे साइकिल दिला दँगे।” ऐसे सुझाव हमारी संस्कृति के स्वार्थी पक्ष को स्वीकृति प्रदान करते हैं। मुझे खुशी है कि एकाधिक बच्चे चमचमाती साइकिल के बदले निरक्षर रहना ही पसन्द करते हैं।

ऐसी घूस का एक दूसरा रूप तब नज़र आता है जब बच्चे की भावनाओं को छूने की कोशिश होती है। “अगर तुम अपनी कक्षा में हमेशा सबसे नीचे रहे तो माँ को बड़ा दुख होगा।” घूस के ये दोनों ही तरीके बच्चे की वास्तविक रुचियों को अनदेखा करते हैं।

जब हम बच्चों से अपना काम करवाते हैं तब भी मुझे सख्त आपत्ति होती है। अगर हमें उनसे अपने काम करवाने हों तो हमें उन्हें उनकी क्षमता के अनुसार पैसे देने चाहिए। अगर मैं टूटी दीवार की मरम्मत करना चाहूँ तो कोई भी बच्चा ईंट इकट्ठा करने में रुचि नहीं लेता। पर मैं एक हाथ-ठेली भर ईंटें लाने के लिए कुछ पैसे देने की बात करूँ तो शायद वह खुशी-खुशी करे। क्योंकि तब मैं उसके स्वार्थ को जगाता हूँ। पर मुझे बच्चे के साप्ताहिक खर्च को कुछ काम करने से जोड़ना भी पसन्द नहीं आता। माता-पिता को उसके बदले में अपेक्षा रखे बिना ही वह सौंपना चाहिए।

सज़ा कभी न्यायपूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि कोई व्यक्ति न्यायपूर्ण नहीं हो सकता। न्याय का निहितार्थ है ‘पूरी समझ’। न्यायाधीशों की नैतिकता किसी कूड़ा-कचरा इकट्ठा करने वाले से अधिक नहीं होती। जो न्यायाधीश बेहद

रूढ़िवादी और सैन्यवादी हो, वह एक शान्ति चाहने वाले ऐसे व्यक्ति जो 'सेना, हाय! हाय!' का नारा लगा रहा हो, के प्रति न्याय कैसे करेगा।

जो शिक्षक चेतने या अचेतने उस बच्चे के प्रति क्रूर हो जाता है जिसने कोई यौन अपराध किया है, उसमें निश्चित ही सेक्स के प्रति कोई गहरी अपराधबोध की भावना है। वह जज जिसके अचेतन मन में समलिंगी भावनाएँ हों, वह समलिंगी अपराध के आरोपी को कड़ी सज़ा देता है।

हम इसलिए न्याय नहीं कर पाते क्योंकि हम खुद को नहीं जानते, अपनी दमित आकांक्षाओं को नहीं पहचानते। बच्चे पर इस कारण बड़ी ज़्यादातियाँ होती हैं। कोई भी वयस्क अपनी कुण्डाओं के परे जाकर बच्चों की शिक्षा-दीक्षा नहीं कर सकता। जब हम खुद ही अपने दमित भयों से त्रस्त हैं, तो हम बच्चों को मुक्त कैसे बना सकते हैं? हम बच्चों पर बस अपनी कुण्डाएँ लाद सकते हैं।

अगर हम खुद को समझने की कोशिश करें तो बच्चों को सज़ा देना कठिन बन जाए। उन पर किसी दूसरे का गुस्सा उतारना मुश्किल हो जाए। सालों पहले मेरे प्रथम स्कूल में मैं बच्चों को बार-बार ठोकता था। निरीक्षक के आने की चिन्ता हो, या अपने मित्र से झगड़ा हो गया हो। दरअसल मैं खुद किस बात से नाराज़ हूँ, यह जानने के बदले मैं किसी भी बहाने अपनी नाराज़गी बच्चों पर निकालता। आज मैं अपने अनुभव से यह जानता हूँ कि सज़ा देना निरर्थक है। मैं किसी बच्चे को सज़ा नहीं देता, सज़ा देने का लोभ भी मन में नहीं जागता।

हाल में मैंने अपने एक नए छात्र से, जो बेहद असामाजिक व्यवहार कर रहा था, कहा, "तुम ये सारी बेवकूफी भरी हरकतें इसलिए कर रहे हो ताकि मैं तुम्हारी पिटाई करूँ क्योंकि तुम ताउम्र पिटते ही आए हो। पर तुम अपना समय बरबाद कर रहे हो, तुम जो कुछ भी करो मैं तुम्हें सज़ा नहीं दूँगा।" इसके बाद उसने तोड़-फोड़ बन्द कर दी। उसे मन में घृणा को पालते रहने की ज़रूरत न रही।

सज़ा हमेशा नफरत से उपजा काम है। सज़ा देते समय शिक्षक या माता-पिता दरअसल बच्चे से घृणा कर रहे होते हैं और बच्चे को यह बात समझ में आती है। ज़ाहिराना तौर पर पीटा गया बच्चा जो पश्चाताप कर करुणामय प्रेम अपने माता-पिता की ओर दर्शाता है, वह सच्चा प्यार नहीं होता। उसके मन में जो वास्तविक भावना है वह है नफरत की। पर अपराधबोध से बचने के वास्ते उसे उस घृणा को छुपाना पड़ता है। पिटाई उसे काल्पनिक जगत में धकेलती है। *काश, मेरे पिता इसी वक्त गिरें और मर जाएँ।* और यह कल्पना मन में तत्काल अपराधबोध जगाती है - *पिता के मरने की इच्छा मन में जागी। हाय ! कैसा पापी हूँ मैं।* इससे उपजा पश्चाताप उसे अपने पिता के पास बाहरी तौर पर प्रेम जताने की ओर ले जाता है। पर उसके मन की घृणा स्थाई तौर पर बने रहने के लिए उपजती है।

इससे भी खराब बात यह है कि सज़ा एक भयावह दुष्चक्र बनाती है। पिटाई घृणा को प्रकट करना है। और हर पिटाई से बच्चे में घृणा बढ़ती जाती है। और जब उसमें भरी हुई घृणा उसके बुरे व्यवहार में झलकती है तो और पिटाई होती है। और यह दूसरे बार की पिटाई अपने साथ और बढ़ी हुई घृणा का फल बन चुकी होती है। इतना कि वह जान बूझकर तमाम पाप करता है ताकि उसके माँ-बाप में भावनात्मक प्रतिक्रिया जागे। क्योंकि जहाँ प्रेम की भावना ही न हो वहाँ घृणा की भावना तो जगाई जा सकती है। सो बच्चा पिटता है और तब पश्चाताप जगता है। पर अगली सुबह वही चक्र फिर शुरू होता है।

जहाँ तक मैं देख पाया हूँ स्व-निर्देशित बच्चे को सज़ा की ज़रूरत ही नहीं होती और वह घृणा के दुष्चक्र से नहीं गुज़रता है। उसे कभी सज़ा नहीं मिलती और दुर्व्यवहार की ज़रूरत नहीं पड़ती। उसे झूठ बोलने की, तोड़-फोड़ करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। उसके शरीर को कभी गन्दा, या उसे कभी शैतान नहीं कहा जाता। उसे सत्ता के प्रति विद्रोह जताने की या माँ-बाप से थरने की ज़रूरत नहीं होती। वह भी झल्लाता है, पर उसकी झल्लाहट कुछ समय टिकती है और वह मनोरोग में नहीं बदलती।

यह सच है कि यह तय करना बड़ा मुश्किल है कि दरअसल किसे सज़ा कहा जाए और किसे नहीं। एक दिन एक लड़के ने मेरा सबसे बढ़िया आरा उधार माँगा। अगले दिन वह आरा बरसात में पड़ा मिला। मैंने उससे कहा कि मैं उसे वह आरा भविष्य में कभी नहीं दूँगा। यह सज़ा नहीं थी। क्योंकि सज़ा में हमेशा नैतिकता का विचार होता है। आरे को बरसात में छोड़ना आरे के लिए खराब ज़रूर था, पर यह काम अनैतिक काम नहीं था। बच्चे को यह तो बखूबी समझ लेना चाहिए कि वह किसी दूसरे के औज़ार माँगकर उन्हें खराब नहीं कर सकता। किसी दूसरे की सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुँचा सकता। *किसी दूसरे की कीमत पर* अपनी बात मनवाना या वह पा लेना जो वह चाहता है, बच्चे के लिए नुकसानदेह है। इससे बच्चे बिगड़ल बनते हैं और बिगड़ल बच्चे खराब नागरिक होते हैं।

कुछ समय पहले हमारे पास एक बच्चा आया। अपने पिछले स्कूल में उसने सबको चीज़ें फेंक-फेंककर आतंकित कर रखा था। यहाँ तक कि उसने बच्चे मार डालने तक की धमकी दी थी। उसने मेरे साथ भी यही खेल शुरू किया। मैंने जल्दी ही यह निष्कर्ष निकाला कि वह अपना गुस्सा दूसरों को डराने और अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए जताता है।

एक दिन खेल के कमरे में घुसते ही मैंने सब बच्चों को एक कोने में झुण्ड बनाए सिमटा हुआ पाया। कमरे के दूसरे कोने में वह आतंकवादी हथौड़ा लिए खड़ा था। जो बच्चा पास आएगा उसका वह सिर फोड़ेगा की धमकी दे रहा था।

मैंने तल्ल्खी से कहा, “बस, नाटक बन्द करो। हम तुम से डरते तक नहीं।”

हथौड़ा फेंककर वह मेरी ओर लपका। उसने मुझे काटा और लातें जमाईं।

मैंने शान्त आवाज़ में कहा, “तुम जितनी बार चाहो मुझे मारो या काटो, मैं तुम्हें पलटकर मारूंगा।” मैंने यह किया भी। कुछ समय में उसने यह स्पर्धा बन्द की और कमरे से भाग गया।

यह सज़ा नहीं थी। यह एक ज़रूरी पाठ था : उसे सिखाना था कि कोई अपने संतोष के लिए दूसरों को ठोक नहीं सकता।

अधिकांश घरों में सज़ा इसलिए दी जाती है कि आज्ञा का पालन नहीं किया गया। स्कूलों में भी कहना न मानना और बदतमीज़ी करना अपराध माना जाता है। जब मैं एक युवा शिक्षक था तो बच्चों की पिटाई करना मेरी आदत थी, क्योंकि ब्रिटेन में अधिकांश शिक्षकों को इसकी छूट होती थी। मुझे सबसे ज़्यादा गुस्सा भी उन्हीं लड़कों पर आता था जो मेरी आज्ञा की अवहेलना करते थे। मेरे नाजुक से आत्मसम्मान को इससे बड़ी ठेस पहुँचती थी। मैं कक्षा में खड़ा आले पर धरे भगवान सरीखा था, वैसे ही जैसे घर के आले पर धरा भगवान कोई पिता होता है। अवज्ञा की सज़ा देने का मतलब है खुद को परमेश्वर मानना: *तू मेरे सिवा किसी और को खुदा नहीं मानेगा।*

बाद में जब मैंने जर्मनी और ऑस्ट्रिया में पढ़ाया तो मुझे उस वक्त बेहद शर्म आती जब लोग पूछते कि क्या ब्रिटेन में शारीरिक दण्ड दिया जाता है। जर्मनी में जो शिक्षक बच्चे को मारते हैं उन पर हमला करने का मामला दर्ज़ होता है और उन्हें अमूमन सज़ा होती थी। ब्रिटिश स्कूलों में जो बेंत या पट्टों से पिटाई होती है वह हमारे लिए सबसे शर्मनाक बात है।

एक बड़े शहर के चिकित्सक ने एक बार मुझे कहा था, “हमारे एक स्कूल का प्रधानाध्यापक निहायत जंगली है। वह बच्चों को बेरहमी से पीटता है। मेरे पास अक्सर उसके कारण दहशत से भरे बच्चे लाए जाते हैं। पर मैं कुछ नहीं कर सकता। लोकमत और कानून जो उसके साथ हैं।”

कुछ ही समय पहले अखबारों में एक मामला छपा जिसमें न्यायाधीश ने दो गुनाहगार भाइयों से कहा कि अगर उन्हें बचपन में दो-चार बार ठोका जाता तो शायद उन्हें अदालत में खड़ा न होना पड़ता। पर जैसे-जैसे मामले के सबूत सामने आते गए पता चला कि दोनों भाइयों के पिता हर रात उनकी धुनाई करते थे।

सॉलोमन और उसके डण्डे की कहानी ने जितना नुकसान किया है उतना फायदा उनकी सूक्तियों तक से नहीं हुआ है। अन्तर्मुखी होकर अन्दर झाँकने की ताकत रखने वाला व्यक्ति कभी भी बच्चे को पीट नहीं सकता, न ही ऐसी इच्छा कर सकता है।

फिर से दोहरा रहा हूँ कि पिटाई के द्वारा बच्चे के मन में उसी समय डर बैठता है जब उसके साथ नैतिकता का विचार जोड़ा जाता है, जब गलती का विचार जगाया जाता है। अगर सड़क चलता कोई छोकरा ढेला मारकर मेरी टोपी गिरा दे, और मैं उसे पकड़कर चाँटा जड़ दूँ तो वह मेरी प्रतिक्रिया को बिल्कुल स्वाभाविक मानेगा। उसकी आत्मा को मैं कोई नुकसान न पहुँचा सकूँगा। पर अगर मैं उसके स्कूल के प्रधानाध्यापक के पास जाकर उसे सज़ा दिलवाना चाहूँ तो यह बच्चे के लिए खराब होगा। क्योंकि तब यह मामला नैतिकता और सज़ा का बन जाएगा। बच्चे को लगेगा कि उसने भारी अपराध किया है।

इसके बाद के दृश्य की बखूबी कल्पना की जा सकती है। मैं एक तरफ अपने कीचड़ से सने टोप को लेकर खड़ा हूँ। प्रधानाध्यापक, अपनी कुर्सी पर जमे हैं, उनकी दुखी-सी आँखें लड़के पर गड़ी हुई हैं। बच्चा गर्दन झुकाए खड़ा है। वह आरोप लगाने वालों की गरिमा से त्रस्त है। सड़क पर उसका पीछा करते समय दोनों एक ही समान थे। सिर का टोप गिरने के बाद मेरी गरिमा भी गायब हो चुकी थी। मैं बस एक राह चलता आदमी भर था। पर मेरे चाँटे ने उसे ज़िन्दगी का एक ज़रूरी पाठ पढ़ाया था। वह यह कि अगर वह किसी व्यक्ति को ढेला मारेगा तो वह आदमी नाराज़ होगा और पलटकर झापड़ धरेगा।

सज़ा का गर्मिजाज़ी से कोई रिश्ता नहीं होता। सज़ा तो बिल्कुल ठण्डी और सोची-समझी चीज़ होती है। सज़ा का रिश्ता नैतिकता से है। सज़ा का दावा यह रहता है कि वह गुनाहगार के हित में दी जा रही है। और अगर मौत की सज़ा है, तो वह समाज के हित में मानी जाती है। सज़ा वह क्रिया है जिसमें इन्सान खुद को भगवान की जगह बैठाता है और दूसरे पर नैतिक फैसला सुनाता है।

कई माँ-बाप इस विश्वास को ही जीवन में उतारते हैं कि क्योंकि ईश्वर पुरस्कार या दण्ड देता है इसलिए उन्हें भी अपने बच्चे को पुरस्कार या दण्ड देना चाहिए। वे ईमानदारी से न्याय करना चाहते हैं और खुद को यह विश्वास दिला देते हैं कि वे अपने बच्चों को उनके ही भले के लिए सज़ा दे रहे हैं। उनका यह कहना कि, *सज़ा देने से तुमसे अधिक तकलीफ मुझे हो रही है* उतना झूठ नहीं है जितना खुद को छलना है।

याद रखना चाहिए कि धर्म और नैतिकता सज़ा को प्रायः आकर्षक संस्था बना देते हैं। क्योंकि सज़ा हमारी चेतना पर मलहम लगाती है। पापी यह कह पाता है, “मैंने अपने पापों की कीमत चुकाई है।”

मेरे भाषणों के बाद प्रश्नोत्तर के समय कोई न कोई पुरातनपंथी अक्सर कहता है, “मेरा बाप अपनी चप्पल से मुझे पीटा करता था, पर मुझे इसका कोई खेद नहीं है। अगर मुझे वह मार न पड़ती तो जो मैं आज हूँ, वह होता ही नहीं।” मैंने कभी

यह पूछने की धृष्टता नहीं की, “आप आज भला हैं क्या?”

यह कहना कि सज़ा से हमेशा मानसिक या आत्मिक आघात नहीं पहुँचता, मुद्दे से बचना ही है। क्योंकि दरअसल हम यह जानते ही नहीं कि भविष्य में किसी व्यक्ति पर उसका क्या और कैसे असर होगा। अश्लील प्रदर्शन के लिए पकड़ा गया आत्मप्रदर्शक शुरुआती जीवन में अक्सर बचकानी यौन आदतों की सज़ा का शिकार रहा होगा।

अगर सज़ा देना कभी भी सफल सिद्ध होता तो उसके पक्ष में कोई तर्क किया जा सकता था। यह सच है कि सज़ा का डर किसी को कुछ करने से रोक सकता है। अगर माता-पिता इस बात से संतुष्ट हैं कि उनके बच्चे का मनोबल डर से पूरी तरह चकनाचूर हो जाए तो ऐसे माता-पिता के लिए सज़ा एक सफल हथियार है।

सज़ा पाने वाले कितने ही बच्चों का मनोबल जीवन भर के लिए टूट जाता है और कितने आजीवन अपंग बन जाते हैं, कितने विद्रोह पर आमादा होते हैं और पहले से भी अधिक असामाजिक बन जाते हैं, यह कोई नहीं बता सकता।

स्कूलों में पढ़ाने के पचास साल के अनुभव के दौरान मैंने एक भी माता-पिता को यह कहते नहीं सुना कि, “मैंने अपने बच्चे की अच्छे से पिटाई की और अब वह एक अच्छा लड़का बन चुका है।” उल्टे यह दर्ज़नों बार सुना है, “मैंने उसे पीटा है, समझाया है, हर तरह से मदद करने की कोशिश की है, परन्तु वह तो बद से बदतर बनता चला जा रहा है।”

दण्डित बच्चा सज़ा से बदतर ही बनता है। और तो और, बड़ा होकर वे सज़ा देने वाले पिता या माँ भी बनते हैं और यही चक्र पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है।

मैं अक्सर एक सवाल अपने आपसे पूछता हूँ। “ऐसा क्यों है कि दयालु और स्नेही माता-पिता, अपने बच्चों के लिए कठोर स्कूल सहन कर लेते हैं?” ऐसे माता-पिता का सरोकार रहता है बच्चों की अच्छी शिक्षा-दीक्षा से। वे यह नहीं देखते हैं कि सज़ा देने वाला शिक्षक किसी विषय में रुचि तो बाँध सकता है, पर यह रुचि बोर्ड पर लिखे सवाल में नहीं होती, वह सज़ा में या सज़ा से बचने में होती है। हमारे स्कूलों और कॉलेजों में सर्वश्रेष्ठ छात्र आगे चलकर औसत व्यक्ति बन जाते हैं। अधिकांश छात्र-छात्राओं में अच्छी पढ़ाई करने की रुचि, उनके माता-पिता के धकियाने से जागी थी। विषय में कोई वास्तविक रुचि उनकी थी ही नहीं।

शिक्षक और सज़ा का भय, जो इन स्कूलों से बच्चों को मिलता है, दरअसल माता-पिता और बच्चे के रिश्ते को भी प्रभावित करता है। क्योंकि बच्चे के लिए प्रत्येक वयस्क, माता-पिता का प्रतीक ही होता है। और जितनी बार शिक्षक उसे सज़ा देता है, बालक के मन में उस प्रतीक के पीछे छुपे वयस्क यानी उसके माँ या पिता के

लिए घृणा जागती है। यह विचार परेशान करने वाला है। मैंने तेरह साल के बच्चे को यह कहते सुना, “मेरे पिछले स्कूल के प्रिंसिपल साब मेरी बेंट से पिटाई करते थे, मुझे समझ नहीं आता कि मेरे माँ-बाप मुझे उस स्कूल में क्यों भेजा करते थे। उन्हें पता था कि माटसाब क्रूर-जंगली किस्म का इंसान है, पर वे इस बारे में कुछ भी नहीं करते थे।”

जब सज़ा भाषण का रूप लेती है तो वह और खतरनाक हो जाती है। भाषण कितने भयावह हो सकते हैं, “क्या तुम्हें पता था कि जो तुम कर रहे हो वह भारी भूल थी?” बच्चा सुबकते हुए हाँ में सिर हिलाता है। “जो तुमने किया उसके लिए माफ़ी माँगो।”

कपट और ढोंग का प्रशिक्षण देने में इस भाषण विधा का कोई सानी नहीं है। इससे भी घटिया बात है - बच्चे की उपस्थिति में उसकी भटकी हुई आत्मा के लिए प्रार्थना करना। यह बिलकुल अक्षम्य अपराध है क्योंकि यह बच्चे में गहरा अपराधबोध जगाता है।

एक दूसरे तरह की सज़ा होती है जो शारीरिक नहीं होती पर बच्चे के विकास में उतनी ही बड़ी बाधा पैदा करती है। लगातार किसी न किसी बात पर पीछे पड़े रहना। मैंने किसी दस वर्षीय बेटे के दिनभर पीछे पड़ी रहने वाली माँ को कहते सुना है, *बाहर धूप में मत जाना ... रेलिंग से दूर रहना ... आज तैरने नहीं जा सकतीं तुम, जुकाम हो जाएगा।* यह पीछे पड़ना माँ के प्यार की निशानी नहीं है। यह तो उस भय की निशानी है, जो उसकी अचेतन घृणा को छुपाती है।

काश वे सब, जो सज़ा की पैरवी करते हैं, वह फ्रेंच फिल्म देख पाते, जो एक बदमाश की ज़िन्दगी की कहानी है। वह जब एक छोटा-सा बच्चा था तो किसी शैतानी के लिए उसे सज़ा दी गई थी कि उसे रात को खाना नहीं मिलेगा। रात को खाने में खुम्बियाँ पकी थीं जो विषैली थीं। परिवार के शेष सदस्य विषैली खुम्बियाँ खाकर मारे जाते हैं। वह नन्हा बदमाश सबके ताबूत देखकर निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अच्छा बने रहने का कोई फायदा नहीं होता। यह एक ऐसी अनैतिक कहानी है जिसकी सीख सज़ा देने वाले माता-पिता समझ ही नहीं पाते।

टट्टी-पेशाब का प्रशिक्षण

समरहिल आने वाले कई लोग इस विचित्र अहसास के साथ लौटते हैं कि हम पखानों की बातचीत कुछ ज़्यादा ही करते हैं। मुझे लगता है कि यह बिल्कुल ज़रूरी है। मैंने पाया है कि हर एक बच्चा टट्टी में बेहद रुचि लेता है।

अपनी टट्टी-पेशाब में बच्चों की रुचि के बारे में इतना कुछ लिखा गया है कि मैंने सोचा था कि अपनी नन्हीं बेटी के अवलोकन से मैं इस बारे में बहुत कुछ सीख सकूँगा। परन्तु उसने न तो इसमें कोई रुचि दर्शाई न कोई घृणा ही। पर जब वह तीन साल की हुई तो उससे साल भर बड़ी लड़की ने उसे टट्टी का एक खेल सिखाया जिसमें फुसफुसाहट शर्म और अपराधबोध से जन्मी ठिठियाहट थी। यह खेल बड़ा थकाऊ था, पर हम इस बारे में कर भी क्या सकते थे। हमें पता था कि इसमें हस्तक्षेप करने का अर्थ होगा उसके विकास में बाधा पहुँचाना। सौभाग्य से ज़ोई कुछ समय में दूसरी बच्ची की एकल गतिविधि से ऊब गई और यह खेल खुद-ब-खुद बन्द हो गया।

वयस्कों को अक्सर यह पता नहीं होगा कि बच्चा टट्टी या बदबू से चौंकता नहीं है। चौंकने वाला दृष्टिकोण ही बच्चों को सचेत करता है। मुझे याद है कि एक ग्यारह वर्षीय लड़की समरहिल आई थी। उसकी एकमात्र रुचि शौचालयों में थी। दरवाज़ों के छेद से ताँक-झाँक करना उसे आनन्द देता था। मैंने जल्दी से उसे भूगोल के बदले शौचालयों का विषय दे डाला। वह बहुत खुश हुई। दसक दिन बाद जब मैंने शौचालयों पर एक टिप्पणी की तो उसने ऊब की आवाज़ में कहा, “मुझे कुछ नहीं सुनना, मैं तो शौचालयों की बात करते-करते तंग आ चुकी हूँ।”

एक और छात्र था, एक लड़का जिसका पढ़ाई-लिखाई में मन ही नहीं लगता था। वह मल और उससे मिलती-जुलती चीज़ों की बातों में उलझा रहता था। मैं जानता था कि जब तक उसकी यह रुचि पूरी तरह चुक नहीं जाएगी वह गणित सीख नहीं सकेगा, और हुआ भी यही।

शिक्षक का काम दरअसल बड़ा सरल है। उसे बस इतना भर पता करना है कि बच्चे की रुचि कहाँ है और तब उस रुचि को भरपूर जी लेने का मौका उसे देना है। यही हमेशा होता है। किसी रुचि को दबाना, उसे चुप कर देने से रुचि मरती नहीं, सिर्फ सतह के नीचे दब जाती है।

श्रीमती नैतिकता का सवाल होगा, “आपके इस तरीके से बच्चों के दिमाग में गंदगी नहीं भर जाएगी?”

“ना, ऐसा नहीं होगा। बल्कि *आपका* तरीका ऐसा है जो बच्चों को स्थाई रूप से उस चीज़ में रुचि लेने पर मज़बूर करता है जिसे आप गन्दगी कह रही हैं। जब वह रुचि को भरपूर जी लेता है तब ही तो नई दिशा में आगे बढ़ने को वह मुक्त हो पाता है।”

“क्या आप अपने स्कूल के बच्चों को दरअसल शौचालयों की बात करने को प्रोत्साहित करते हैं?”

“बेशक, अगर मुझे लगे कि उनकी शौचालयों में रुचि है तो। जो बच्चे मनोरोगी

होते हैं उन्हें भी इस स्थिति से उबरने में सप्ताह भर से अधिक लगता है।”

कुछ सालों पहले एक ऐसा ही मनोरोगी बच्चा हमारे पास आया। उस छोटे से लड़के को इसलिए हमारे पास भेजा गया था क्योंकि वह दिन भर अपनी पैंट गन्दी करता रहता था। उसकी माँ ने उसकी आदत छुड़ाने की कोशिश में उसकी खूब धुनाई की थी और तब हताश होकर उसे अपना मल खाने पर बाध्य किया था। हमारी समस्याओं की आप कल्पना कर सकते होंगे। हमें पता चला कि उसका एक छोटा भाई भी था। उसके जन्म के बाद ही सारी परेशानियाँ शुरू हुई थीं। कारण बड़ा ज़ाहिर-सा था। लड़के ने सोचा, *इस छोटे भाई ने माँ का प्यार चुरा लिया है। अगर मैं भी उस जैसा बन जाऊँ और जैसे वह अपने पोतड़े गन्दे करता है, अपनी पैंट गन्दी करूँ तो माँ शायद मुझे फिर से प्यार करने लगे।*

मैंने उसके लिए कुछ ‘निजी-पाठ’ बनाए जिसमें उसे क्रमशः बताया कि इन हरकतों के पीछे उसकी असली मंशा क्या है। पर ऐसे मामलों में बदलाव अचानक या नाटकीय तरीके से नहीं आता। सालभर तक वह बच्चा दिन में तीन-तीन बार खुद को गन्दा करता रहा। पर किसी ने उसे कडुवाहट से भरे शब्द नहीं कहे। श्रीमती कॉर्कहिल हमारी नर्स उसे बिना फटकारे साफ करती रहीं। जब वह भारी गन्दगी मचाता तो मैंने उसे ईनाम देना शुरू किया। इस पर श्रीमती कॉर्कहिल ने प्रतिवाद किया। क्योंकि ईनाम का मतलब था उसके व्यवहार का अनुमोदन करना।

इस पूरे दौर में वह लड़का एक धिनौना शैतान बना रहा। और इसमें आश्चर्य भी क्या था। उसकी तमाम समस्याएँ थीं, संघर्ष थे। पर अपने इलाज के बाद वह एक बिल्कुल साफ-सुथरा बच्चा बन गया और हमारे पास अगले तीन साल तक रहा। अन्ततः एक ऐसा बच्चा बना जिसे प्यार किया जा सकता था। उसकी माँ उसे इस नाम पर समरहिल से निकालकर एक नए स्कूल में ले गई कि वह वहाँ दरअसल कुछ *सीखे*। साल भर नए स्कूल में बिताने के बाद वह हमसे मिलने आया। बिल्कुल बदला हुआ था - पाखण्डी, भयभीत और दुखी। उसने कहा कि वह अपनी माँ को उसे समरहिल से हटाने पर कभी माफ नहीं कर सकेगा, कभी माफ करेगा भी नहीं। आश्चर्यजनक बात यह है कि इतने सालों में पैंट गन्दे करने वाला यही एक उदाहरण हमारे पास आया था। सम्भव है कि ऐसे दृष्टान्त माँ द्वारा प्रेम न मिलने से उपजी घृणा का नतीजा हो।

सम्भव है कि हम किसी बच्चे को, शारीरिक क्रियाओं में स्थिर या दमित रुचि के बिना भी, साफ रहना सिखा सकें। बिलौटियों या बछड़ों में अपने मल के प्रति कोई मनोग्रन्थि नहीं होती। बच्चों में ये ग्रन्थियाँ उसे सिखाने के तौर-तरीके से उपजती हैं। जब माँ *शैतान* या *गन्दा* या केवल ‘चच्च-चच्च’ कहती है तब भी सही या गलत का भाव जागता है। तब यह *नैतिकता* का प्रश्न बन जाता है, एक *भौतिक* सवाल नहीं रहता।

पखाने में रुचि रखने वाले किसी बच्चे से निपटने का यह गलत तरीका है कि उससे यह कहा जाए कि वह गन्दा काम कर रहा है। सही तरीका है कि उसे अपने मल/विष्टा में रुचि को भरपूर जी लेने के लिए मिट्टी से खेलने देना। इससे वह अपनी रुचि का दमन करने के बदले उसे उभार सकेगा। वह उसे पूरा जिएगा और जीते हुए उसे खत्म कर सकेगा।

एक बार मैंने अखबार के लिए एक लेख लिखा जिसमें बच्चे के मिट्टी के खिलौने बनाने के अधिकार का उल्लेख किया। एक जाने-माने मॉन्टेसरी शिक्षाविद् ने प्रतिक्रिया में एक पत्र लिखा कि उनका अनुभव बताता है कि जब बच्चे को कुछ बेहतर करने को दिया जाए तो वह मिट्टी के खिलौने नहीं बनाएगा। पर जब किसी बच्चे की रुचि मिट्टी के खिलौनों में स्थिर हो तो उससे भला क्या कहा जा सकता है? समस्यात्मक बच्चों को यह बताया जाना चाहिए कि वह दरअसल क्या कर रहा है। क्योंकि इसके बिना सालों-साल तक मिट्टी के खिलौने बनाने के बावजूद वह मल में अपनी मूल-रुचि से बाहर नहीं निकल सकेगा।

मुझे जिम की याद आती है। आठ साल का जिम मल को लेकर तमाम कल्पनाएँ करता था। मैंने उसे मिट्टी के खिलौने बनाने को प्रोत्साहित किया। पर मैं उसे हमेशा यह भी बताया करता कि उसकी वास्तविक रुचि किसमें है। इस तरह उसके इलाज की प्रक्रिया त्वरित हो सकी। मैं उससे यह नहीं कहता, “तुम यह इसलिए कर रहे हो क्योंकि यह उसका विकल्प है।” मैं उससे केवल दोनों चीज़ों की समानता की बात करता था और यह प्रभावी रहा। पर इससे छोटी उम्र के बच्चे, यानी पाँचेक साल के बच्चे को यह बताना ज़रूरी नहीं है कि वह मिट्टी के खिलौने बनाते-बनाते खुद-ब-खुद अपनी कल्पनाओं को जी लेगा और उनसे मुक्त हो सकेगा।

किसी बच्चे के लिए उसकी टट्टी अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय हैं। इस रुचि को किसी भी तरह से दबाना खतरनाक और बेवकूफी भरा होगा। दूसरी तरफ मल को खास अहमियत देने की ज़रूरत भी नहीं है, बशर्ते बच्चा स्वयं अपने उत्पाद पर गर्व न करता हो। ऐसे में उसकी प्रशंसा करने में कोई हर्ज़ नहीं। अगर बच्चा गलती से गन्दगी कर दे तो उसे बिल्कुल सामान्य रूप से लेना चाहिए।

मल त्याग केवल बच्चे के लिए ही नहीं बल्कि कई वयस्कों के लिए भी एक रचनात्मक काम है। कई वयस्क इस बात पर खुश होते हैं कि उनका पेट अच्छी तरह से साफ हुआ है। प्रतीकात्मक रूप से यह बड़ी मूल्यवान बात है। जो चोर, चोरी करने के बाद कालीन पर पखाना कर जाता है, वह चोट पहुँचाने के बाद अपमान नहीं कर रहा होता। वह अपने अपराधबोध के चलते चुराई हुई चीज़ के बदले कोई कीमती चीज़ छोड़ने की कोशिश करता है।

पशु प्राकृतिक क्रियाओं के प्रति सचेत नहीं होते। कुत्ते और बिल्लियाँ स्वाभाविक रूप से अपने मल को त्यागने के बाद खुद ही उसे ढँक देते हैं। शायद वह उस वक्त की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है जब भोजन को साफ रखने के लिए यह ज़रूरी रहा होगा। मनुष्यों में अपने मल को लेकर जो नैतिकता का दृष्टिकोण है वह शायद उसके अप्राकृतिक आहार से जन्मा है। घोड़ों की लीद, भेड़ों और खरगोशों की मींगणी बिल्कुल साफ होती है। उससे घिन नहीं आती है। पर मनुष्यों का मल घिनौना होता है क्योंकि वह कृत्रिम चीज़ों को अपने आहार में शामिल करता है। मुझे कई बार लगा है कि अगर मनुष्यों का मल छूना उतना ही आसान होता जितना पशुओं के मल को छूना, तो शायद बच्चों को भावनात्मक मुक्ति के साथ बड़े होने का बेहतर मौका मिलता।

वयस्कों को मानव मल से जो घिन आती है वह बच्चों के मानस में नकारात्मक, घृणा पैदा करने वाली भावना पनपाती है। क्योंकि प्रकृति ने मल त्याग और जननांगों को पास-पास बनाया है। बच्चा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि दोनों ही गन्दे हैं। अगर माता-पिता मल के प्रति घृणा जताएँगे तो बच्चा सेक्स के प्रति भी वैसा ही दृष्टिकोण अपनाएगा। अतः सेक्स और मल के प्रति घृणा एक ही दमित भावना का हिस्सा है।

जब कोई माँ अपने बच्चे के पोतड़े धोती है तो उसके मन में घिन नहीं जागती। पर तीन साल बाद अगर वही बच्चा कालीन पर निबट आए तो उसे साफ करने में वह काफी झुँझलाती है। सभी माताओं को मल की स्थितियों से सावधानी से निपटना चाहिए। उन्हें याद रखना चाहिए कि किसी तरह का भावनात्मक गुस्सा बच्चे पर न छलके। क्योंकि वह अन्दर पैठता है और वहीं बस जाता है और उसके व्यक्तित्व पर दर्ज़ हो जाता है।

भोजन

सत्तावाद शिशुकक्ष में प्रारम्भ हुआ था और अब भी वहीं प्रारम्भ होता है। बच्चे की स्वाभाविकता में पहला हस्तक्षेप तानाशाही ही है। और यह हस्तक्षेप हमेशा खान-पान को लेकर होता है। यह उस वक्त शुरू होता है जब हम बच्चे को एक समय सारिणी के अनुसार भूखे रहने या खाने पर बाध्य करते हैं।

इसका सतही स्पष्टीकरण तो यह दिया जाता है कि समयबद्ध तरीके से खिलाना-पिलाना वयस्कों के दैनिक कामों की सहूलियत के लिए ज़रूरी है। पर कहीं गहरे दबा है इसका सच्चा उद्देश्य। वह यह कि नवजात जीवन के प्रति, उसकी

स्वाभाविक आवश्यकताओं के प्रति हमारे मन में एक नफरत-सी बसी है। यह बात उस वक़्त नज़र आती है जब कुछ परिवार किसी भूखे बच्चे का रोना निहायत उदासीनता के साथ बड़े आराम से सुनते जाते हैं।

स्वनिर्देशन की शुरुआत जन्म से, पहले स्तनपान से ही होनी चाहिए। हरेक शिशु का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि जब वह भूखा हो उसे दूध मिले। अगर बच्चा घर पर होता है तो माँ को बच्चे की इच्छानुसार खिलाने-पिलाने में आसानी होती है पर अधिकांश अस्पतालों में मातृ-वॉर्डों में प्रसव के बाद ही बच्चे को माँ से अलग कर शिशु-वॉर्ड में ले जाया जाता है। पहले चौबीस घण्टों में माँ उसे न तो स्तनपान करा सकती है, न ही बोतल से दूध दे सकती है। इसका बच्चे पर क्या स्थाई असर पड़ता है, यह कौन जानता है?

आजकल कुछ अस्पतालों में शिशु को माँ की देख-रेख में छोड़ा जाता है। इस विषय पर पहले से बात किए बिना अगर कोई अस्पताल में दाखिल हो तो इसका मतलब है उनकी व्यवस्था को जस का तस स्वीकारना। अगर कोई माँ बच्चे के लिए आत्म-संचालन का उपयोग करना चाहती है, तो उसे ऐसे अस्पताल में जाना चाहिए जहाँ बच्चा उसके पास रह सके। यानी जहाँ शिशु स्वनिर्देशन की उपेक्षा न हो। अन्यथा यही बेहतर है कि बच्चे पर ऐसी क़ूरता करने के बदले बच्चा घर पर ही हो।

समय-सारिणी के अनुसार बच्चे को खिलाने-पिलाने की इतनी आलोचना हुई है कि कई चिकित्सकों और नर्सों ने यह सुझाव देना बन्द कर दिया है। ज़ाहिर है कि यह गलत है और खतरनाक भी। अगर कोई बच्चा चार बजे भूख से कुलबुलाते हुए रोने लगता है, पर उसे उस वक़्त तक दूध नहीं पिलाया जाता है, जब तक समय नहीं हो जाता, तो यह निहायत बेवकूफी का काम है। यह क़ूरता है, जीवन विरोधी अनुशासन है। *शिशु को उस वक़्त दूध देना चाहिए जब वह चाहे।* शुरु-शुरु में वह जल्दी-जल्दी आहार चाहेगा क्योंकि वह एक बार में भरपेट दूध नहीं पी सकता।

रात के समय बच्चे को बोतल से पानी पिलाना गलत है। रात को अगर उसे भूख लगे तो माँ का दूध ही पिलाया जाना चाहिए। दो-तीन महीनों में शिशु खुद-ब-खुद अपना संचालन करना सीख लेगा। धीरे-धीरे वह एक बार में अधिक आहार ले सकेगा और दूध पीने का अन्तराल भी बढ़ता जाएगा। तीन-चार माह का होते-होते बच्चा रात को दस-ग्यारह बजे और सुबह पाँच-छह बजे आहार की माँग करेगा। पर इस बारे में कोई पक्का नियम नहीं होता।

हरेक शिशुकक्ष में एक मूलभूत नियम तो लिखकर टाँग ही देना चाहिए। वह यह कि *बच्चे को रोते-रोते थक जाने की स्थिति में कभी नहीं आने देना चाहिए।* उसकी ज़रूरतों पर हर बार ध्यान दिया जाना चाहिए।

जब बच्चों को समय-सारिणी के हिसाब से प्रशिक्षित किया जाता है तो माँ हमेशा उससे कुछ कदम आगे रहती है। एक कुशल विशेषज्ञ की तरह उसे पता रहता है कि आगे क्या और कैसे करना है। परन्तु इस प्रकार वह एक यांत्रिक शिशु को पाल रही होगी। ज़ाहिर है कि ऐसा बच्चा वयस्कों के लिए न्यूनतम परेशानी खड़ी करेगा। पर इसकी कीमत होगी उसका स्वाभाविक विकास। लेकिन स्वनिर्देशित शिशु का मतलब होगा हर दिन, हर पल, माँ कुछ नया जानेगी, खोज पाएगी। क्योंकि तब माँ हमेशा शिशु से एक कदम पीछे होगी, उसे पास से देखते हुए हमेशा सीखती रहेगी। ऐसे में ठीक से दूध पीने के आधे घण्टे बाद ही अगर बच्चा रोने लगे तो उसे खुद सोचना होगा कि उसे क्या तकलीफ हो सकती है। समय-सारिणी बनाने वाले यांत्रिक जो कहते हैं उसे भूल जाना होगा। क्या बच्चा आराम से नहीं है? क्या उसके पेट में गैस बनी है? क्या वह और दूध चाहता है? या कि वह अकेलापन महसूस कर रहा है और सिर्फ़ आपका स्पर्श और ध्यान चाहता है? माँ को हमेशा अपने स्वतः जागने वाले प्रेम के आधार पर प्रतिक्रिया करनी चाहिए, किसी किताब में लिखे, बेवकूफी भरे नियम के आधार पर नहीं।

अगर शिशुओं को उनकी तरह जीने दिया जाए तो प्रत्येक शिशु अपनी खुद की समय-सारिणी बना लेगा। अर्थात उसमें स्वनिर्देशन की क्षमता है, केवल दूध पीने के बारे में ही नहीं, बल्कि आगे चलकर दूसरे ठोस आहारों के बारे में भी। कुछ बड़े होने के बाद और कभी-कभी किशोरावस्था तक भी बच्चे अँगूठा चूसते रहते हैं। यह समय-सारिणी के हिसाब से दूध पिलाने का साफ-साफ दिखाई देने वाला नतीजा है। अँगूठा चूसने के दो पक्ष हैं - खाने की भूख और चूसने में आने वाला आनन्द। जब भूख लगती है तो मौखिक आनन्द भी आता है, जो भूख शान्त होने के पहले ही शान्त हो जाता है। पर अगर बच्चे को इसलिए रोना पड़े क्योंकि घड़ी के हिसाब से उसके भूखे होने का समय नहीं हुआ है, तो ये दोनों ही पक्ष अवरुद्ध हो जाते हैं।

मैंने अस्पतालों में मातृ-वॉर्डों में माताओं को चिकित्सक के निर्देश पर बच्चे से जबरन स्तन छुड़ाते देखा है, क्योंकि घड़ी के हिसाब से उनका दूध पीने का समय पूरा हो चुका होता है। मुझे लगता है कि एक समस्याग्रस्त बच्चा तैयार करने का यह सबसे बढ़िया तरीका है।

नासमझ चिकित्सक और माता-पिता शिशु की स्वाभाविक इच्छाओं और व्यवहार में आश्चर्यजनक रूप से दखल देते हैं। शिशु को ढालने और गढ़ने में उनके बेवकूफी भरे विचारों के चलते, वे उसकी खुशी और स्वाभाविकता ही नष्ट कर डालते हैं। ऐसे लोग मानव के सार्वजनीन शारीरिक व मानसिक रोगों को जन्म देते हैं। बाद में स्कूल व गिरजे अपनी अनुशासित शिक्षा पद्धति के द्वारा उस प्रक्रिया को जारी रखते हैं जो आनन्द विरोधी और स्वतंत्रता विरोधी है।

एक माँ ने अपने स्वनिर्देशित बच्चे के बारे में लिखा कि जब वह ठोस आहार लेने लगा तो उसे अपना खाना और उसकी मात्रा चुनने की छूट दी गई। अगर वह कोई सब्जी नापसन्द करता तो उसे दूसरी तरह की सब्जी दी जाती, चाहता तो उसे कुछ मीठा दिया जाता। कई बार वह मीठा खाने के बाद वही सब्जी भी खा लेता जिसके लिए उसने पहले मना किया था। कभी ऐसा भी होता कि वह कुछ भी नहीं खाना चाहता। ज़ाहिर था कि उसे उस वक्त भूख नहीं है। तब वह अगले खाने के समय भरपेट खाता।

अक्सर माँ यह सोचती है कि वह बच्चे की ज़रूरत को बच्चे से भी ज़्यादा अच्छी तरह समझती है। पर यह सच नहीं है। बच्चों के खान-पान के बारे में तो इसे आसानी से जाँचा जा सकता है। कोई भी माँ मेज़ पर ऑइसक्रीम, टॉफी, रोटी, टमाटर, सलाद और दूसरी चीज़ें रख सकती है और बच्चे को चुनने की पूरी छूट दे सकती है। एक औसत बच्चा जिसे हस्तक्षेप का सामना नहीं करना पड़ा है हमेशा संतुलित आहार ही चुनेगा। मैंने सुना है कि अमरीका में हुए नियंत्रित प्रयोगों में भी यही परिणाम निकला है।

हम समरहिल में छोटे से छोटे बच्चे को हर दिन बने खाने में से अपनी पसन्द का खाना चुनने देते हैं। रात के खाने में भी तीन तरह की चीज़ों में से चुनने की छूट होती है। फलस्वरूप समरहिल में अधिकांश स्कूलों की तुलना में कम खाना बरबाद होता है। पर यह हमारा उद्देश्य नहीं है क्योंकि हम खाना बचाने के बदले बच्चे को ही बचाना चाहते हैं।

जब बच्चे संतुलित आहार लेते हैं तो जेबखर्च के पैसों से खरीदी मीठी गोलियाँ भी नुकसान नहीं करतीं। ये गोलियाँ इसलिए पसन्द आती हैं क्योंकि शरीर को उनकी चीनी की ज़रूरत होती है। और वह उन्हें मिलनी ही चाहिए।

बच्चे को माँस और अण्डा खाने पर बाध्य करना, खासकर जब उसे वह नापसन्द हो तो, सरासर ज़्यादती है। ज़ोई को खुद अपनी पसन्द से खाना चुनने की अनुमति दी गई थी। उसे जब भी जुकाम होता तो सिर्फ़ फल खाती और फलों का रस पीती, बिना किसी सुझाव के। ज़ोई से पहले मैंने ऐसा कोई नन्हा नहीं देखा था जो खाने-पीने के प्रति इतना उदासीन हो। चॉकलेट की थैली उसकी मेज़ पर दिनों-दिन पड़ी रहती और वह उसे हाथ तक न लगाती। दोपहर या रात के खाने में बनी स्वादिष्ट से स्वादिष्ट चीज़ तक मैं उसकी रुचि नहीं जागती। वह नाश्ता करने बैठती, पर अगर कोई बच्चा उसे खेलने को बुलाता तो झट भाग लेती। पर उसका शरीर हमेशा हट्टा-कट्टा रहा, हमें कभी चिन्ता नहीं हुई।

आहार के बारे में मैं कोई विशेषज्ञ नहीं हूँ। पर मेरा मत है कि इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि बच्चा माँस खाता है या नहीं। उसका भोजन संतुलित हो तो

उसका स्वास्थ्य भी अच्छा होगा। समरहिल में बच्चों को दस्त लगते या कब्ज होते मैंने बिरले ही देखा-सुना है। हम हमेशा कच्ची हरी सब्जियाँ रखते हैं। कई बार नए बच्चे उन्हें खाने से मना कर देते हैं। पर धीरे-धीरे कुछ समय बाद वे उसे पसन्द करने लगते हैं। समरहिल में बच्चे खाने को लेकर बहुत चिन्ता नहीं करते। होना भी यही चाहिए।

बचपन में खाना बच्चों को बेहद आनन्द देता है इसलिए उस आनन्द को खाने के शिष्टाचार से बाँधकर नष्ट नहीं करना चाहिए। दुखद सच्चाई यह है कि समरहिल में वे बच्चे ही सबसे खराब तरह से खाते हैं जिनके घरों में शिष्टाचार पर बड़ा ज़ोर होता है। जिनके घरों में खाने को लेकर जितना कायदा-कानून होता है, आज्ञादी मिलने पर वे बच्चे ही सबसे खराब तरह से खाते हैं। इस बारे में कुछ किया नहीं जा सकता। उसे अपनी दबी कुण्ठाओं को निकालने का मौका देना होता है ताकि किशोरावस्था में वह फिर से सहज हो सके।

बच्चे के जीवन में खाना ही सबसे महत्वपूर्ण है, सेक्स से भी महत्वपूर्ण। पेट हमेशा अहमकेन्द्रित और स्वार्थी होता है। अहम बचपन का एक हिस्सा होता है। दस साल के लड़के के लिए उसकी प्लेट का गोश्त उसका इतना अपना होता है जितना कि एक राजा के लिए उसके हरम की रानी भी नहीं।

सेहत और नींद

समरहिल के चालीस वर्षों में हमारे बच्चों को बीमारियाँ बहुत कम हुई हैं। इसका मुझे जो कारण लगता है वह है कि हम जीवन प्रक्रियाओं के पक्ष में हैं, शरीर के प्रति हमारा नज़रिया सकारात्मक है। हम खानपान से अधिक महत्व बच्चों की खुशी को देते हैं। समरहिल में आने वाले मेहमान अमूमन यह टिप्पणी करते हैं कि हमारे बच्चे कितने स्वस्थ लगते हैं। मुझे लगता है कि आनन्द ही हमारी लड़कियों को सुन्दर और लड़कों को आकर्षक बनाता है।

सम्भव है कि हरी पत्तियाँ व सलाद आदि गुर्दे की बीमारियाँ ठीक करते हों। पर दमन से जन्मा आत्मिक रोग दुनिया भर के हरे पत्तों से ठीक नहीं किया जा सकता है। संतुलित आहार लेने वाला कोई व्यक्ति नैतिकता का उपदेश देकर अपने बच्चों का जीना हराम कर सकता है। पर जो व्यक्ति मनोरोगी न हो वह अपने बच्चों का अहित नहीं कर सकता। मेरा अनुभव बताता है कि मानसिक रूप से आहत बच्चों की तुलना में आज्ञाद बच्चे शारीरिक रूप से अधिक स्वस्थ होते हैं।

एक बात और देखी है मैंने। समरहिल के कई लड़के छह फुटे होते हैं। तब भी जब

उनके माता-पिता तुलनात्मक रूप से नाटे हों। सम्भव है कि यह महज़ संयोग ही हो। पर यह भी सम्भव है कि मुक्ति और स्नेह का वातावरण उन्हें हर तरह से बढ़ने देता हो, इंकों में भी। मैंने यह ज़रूर देखा है कि हस्तमैथुन पर प्रतिबन्ध हटाने के बाद बच्चे और तेज़ी से बढ़ते हैं।

एक और प्रश्न है नींद का। मुझे पता नहीं कि चिकित्सकों का यह कहना कहाँ तक सच है कि एक बच्चे के लिए कम-से-कम इतने घण्टे सोना ज़रूरी है। जब बच्चे बिलकुल छोटे हों तो यह बात सच होती है। एक सात साल के बच्चे को देर रात तक जागने देने का उसके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है क्योंकि वह सुबह देर तक सो नहीं पाता। कुछ बच्चे सोने जाना नहीं चाहते क्योंकि उन्हें लगता है इससे वे तमाम मज़ेदार चीज़ों से वंचित रह जाएँगे।

मुक्तशाला में सोने का समय बड़ा सरदर्द है। छोटे बच्चों के मामले में शायद उतना नहीं जितना बड़े बच्चों के मामले में। यौवन रतजगा पसन्द करता है। मुझे इससे हमदर्दी है क्योंकि मैं खुद भी जल्दी सोना पसन्द नहीं करता।

अधिकांश वयस्कों के लिए यह सवाल काम के कारण अपने आप हल हो जाता है। अगर सुबह आठ बजे आपको दफ़्तर में हाज़िर होना है तो देर रात तक जागने के लोभ पर काबू पाना ही पड़ता है।

कुछ दूसरे घटक जैसे खुशी, अच्छा खाना आदि नींद की कमी की पूर्ति कर देते हैं। समरहिल में बच्चे इतवार की सुबह नींद की कमी पूरी करते हैं। ज़रूरत पड़े तो दोपहर का खाना तक छोड़ देते हैं।

जहाँ तक काम और स्वास्थ्य के रिश्ते का प्रश्न है, मैं अपने काम दोहरे मकसद से करता हूँ। मैं यह जानते हुए भी आलू खोदता हूँ कि अगर वही समय मैं एक लेख लिखने में लगाऊँ और आलू किसी मज़दूर से खुदवाऊँ तो फ़ायदे में रहूँगा। फिर भी मैं आलू खोदता हूँ क्योंकि मैं स्वस्थ रहना चाहता हूँ। और यह उद्देश्य मेरे लिए चन्द रुपयों से ज़्यादा कीमती है। मेरा एक दोस्त जो गाड़ियों का व्यापारी है, मुझे अब्बल दर्ज़े का अहमक समझता है। वह कहता है कि आज के मशीनी युग में हाथ से खुदाई करने वाले गधे ही हो सकते हैं। मैं उसे कहता हूँ कि मशीनें पूरे देश का स्वास्थ्य बरबाद कर रही हैं। उनकी वजह से आज न कोई पैदल चलता है, न खुदाई करता है। वह और मैं दोनों उम्र के उस पड़ाव पर पहुँच चुके हैं कि स्वास्थ्य की समस्याओं के बारे में सचेत हों।

पर एक बच्चा स्वास्थ्य के बारे में कोई फ़िक्र नहीं करता। कोई लड़का स्वस्थ रहने के लिए आलू नहीं खोदता। वह जो कुछ करता है उसके पीछे एक ही उद्देश्य होता है, उस वक्त उसकी रुचि।

समरहिल के स्वस्थ रहने का राज़ है आज़ादी, बढ़िया भोजन और ताज़ी हवा - ठीक इसी क्रम में।

साफ़-सफ़ाई और कपड़े

व्यक्तिगत साफ़-सफ़ाई के मामले में लड़कों की तुलना में लड़कियाँ अधिक व्यवस्थित होती हैं। समरहिल में तकरीबन पन्द्रह साल की उम्र के लड़के-लड़कियाँ अपने रंग-रूप और कपड़ों के प्रति सचेत होने लगते हैं। पर अपने कमरों की सफ़ाई के प्रति लड़कियाँ भी उतनी ही उदासीन होती हैं, जितने लड़के। तकरीबन चौदह सालों तक वे अपनी गुड़ियों को सजाती हैं, नाटक की पोशाकें बनाती हैं और फर्श पर सब कुछ बिखरा हुआ छोड़ती हैं। पर यह गन्दगी रचनात्मक गन्दगी है।

समरहिल में बिरले ही कोई ऐसी लड़की आई होगी जो नहाती न हो। हाँ एक नौ साल की बच्ची ज़रूर आई थी जिसकी दादी को सफ़ाई की बीमारी थी। वे उसे दिन में दसियों बार नहलाती थीं। इसी मिल्ड्रेड की आवासगृह माँ एक दिन मेरे पास यह कहते हुए आई, “सप्ताह भर से मिल्ड्रेड नहाई नहीं है। अब हाल यह है कि वो गंधाने लगी है। मैं क्या करूँ?”

मैंने कहा, “उसे मेरे पास भेज दीजिए।”

कुछ देर में मिल्ड्रेड आई, उसका चेहरा और हाथ बहुत गन्दे थे।

मैंने सरख्त आवाज़ में कहा, “देखो, यह सब नहीं चलेगा।”

उसने प्रतिवाद किया “पर मैं मुँह-हाथ धोना नहीं चाहती।”

“चुप” मैंने कहा, “नहाने-धोने की बात कौन कर रहा है? आइने में अपनी शक्ल तो देखो।” (उसने चेहरा देखा) “अपनी शक्ल-सूरत के बारे में क्या सोचती हो?”

“बहुत साफ़ तो शायद नहीं है।” उसने खिली बाँछों के साथ कहा।

“बहुत ही साफ़ है!” मैंने पलटकर कहा, “इस स्कूल में मुझे लड़कियों की साफ़ शक्लें नहीं चाहिए। चलो दफा हो जाओ।”

वह सीधे कोयलाघर में गई और अपना चेहरा काला कर आई। लौटकर शान से मेरे पास आई, “अब चलेगा?” उसने जानना चाहा।

मैंने आवश्यक गम्भीरता से उसका चेहरा निहारा तब कहा, “ना, ये देखो, गाल पर यह सफ़ेद धब्बा तो छूट ही गया।”

उस रात मिल्ड्रेड नहाई। पर मुझे समझ में नहीं आया कि उसने ऐसा क्यों किया।

मुझे एक सत्रह साल के लड़के का किस्सा याद आता है जो एक निजी स्कूल से आया था। आने के सप्ताह भर बाद ही उसने स्टेशन के उन मज़दूरों से दोस्ती कर ली जो कोयला उठाने का काम करते थे। उसने उनकी मदद करनी शुरू की। जब वह खाना खाने भोजनकक्ष में पहुँचता तो उसके हाथ और चेहरे पर कालिख पुती होती। पर किसी ने उसे एक शब्द भी नहीं कहा। किसे परवाह थी।

निजी स्कूल और घर में साफ-सफाई के लादे गए विचारों की गिरफ्त से छूटने में उसे कई सप्ताह लग गए। जब कोयले उठाने-लादने की झक पूरी हुई तो फिर से उसका शरीर, उसके कपड़े साफ रहने लगे पर एक फर्क के साथ। अब सफाई उस पर थोपी हुई चीज़ नहीं थी। गन्दगी सम्बंधी अपनी ग्रन्थियाँ वह खोल चुका था।

जब विली मिट्टी के टीले बनाता है तो माँ चौंकती है, आखिर बच्चे के गन्दे कपड़े देख पड़ोसी क्या कहेंगे! इस स्थिति में सामाजिक प्रतिष्ठा जो दाँव पर लगी होती है। समाज क्या सोचेगा? यानी सामाजिक दाँव व्यक्तिगत दाँव पर भारी पड़ता है। यानी खेलने और बनाने के आनन्द से कहीं ज़रूरी समाज की राय रहती है।

अक्सर माँ-बाप साफ-सफाई पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर देते हैं। सात भयंकर सद्गुणों में एक स्वच्छता माना जाता है। जो व्यक्ति अपनी साफ-सफाई पर बड़ा घमण्ड करता है, वह अक्सर दूसरे दर्जे का इन्सान होता है, जो कभी किसी चीज़ में अब्बल न आ सका हो। जो सबसे साफ-सफाई पसन्द होते हैं, अक्सर उनके दिमाग में बेहद उथल-पुथल होती है। मैं यह बात एक ऐसे इन्सान की तटस्थता के साथ कह रहा हूँ जिसकी मेज़ हमेशा कागज़ों के बेतरतीब ढेर से इस तरह पटी रहती है, जैसे किसी सार्वजनिक बाग में लगे, ‘गन्दगी करना मना है।’ के साईन बोर्ड के नीचे फैला कूड़े का ढेर।

हमारे परिवार में स्वनिर्देशन में सबसे बड़ी समस्या कपड़े लत्तों को लेकर आई। ज़ोई का बस चलता और अगर उसे ऐसा करने दिया जाता तो वह दिन भर नंगी ही घूमती। एक दूसरी स्वनिर्देशित बच्ची के माता-पिता ने बताया कि जब टण्ड पड़ने लगती तो उनकी बिटिया अपने आप घर लौट आती और गरम कपड़े माँगती। ज़ोई के साथ हमारा यह अनुभव नहीं रहा। ज़ोई उस समय तक ठिटुरती रहती, जब तक उसकी नाक और गाल नीले न पड़ जाते। और तब भी कपड़े पहनाने की हमारी कोशिशों का वह विरोध करती।

साहसी माता-पिता कह सकते हैं, “उसका शरीर ही उसे निर्देशित करेगा। ठिटुरने दो, वह ठीक ही रहेगी।” पर हममें इतनी हिम्मत नहीं कि हम निमोनिया का ज़ोखिम उठा पाते। सो जितने ज़रूरी लगे हम उसे ज़बरदस्ती कपड़े पहनाते हैं।

छोटे बच्चे क्या पहनेंगे यह माँ-बाप को तय करना चाहिए। जब वे किशोर बन जाएँ

तो उन्हें अपने कपड़े चुनने की छूट देनी चाहिए। लाखों लड़कियाँ इस बात से तकलीफ पाती हैं क्योंकि उनकी माँ उनके कपड़े चुनने पर आमादा रहती हैं। लड़कों के कपड़ों को चुनना अमूमन आसान होता है। जिन माँ-बाप के लिए सम्भव है, उन्हें बच्चों को कपड़ों का खर्च दे देना चाहिए। अगर बच्चा वह पैसा सिनेमा देखने या गोली-चॉकलेट खाने पर खर्च करे, तो यह उसका मामला मानना चाहिए।

जो अक्षम्य अपराध है वह है अपने बच्चों को ऐसे कपड़े पहनाना जिससे वे अपने दोस्तों से अलग नज़र आएँ। किसी लड़के को जो बेहद लम्बा हो गया हो, हाफपैट पहनाना जबकि उसके साथी लम्बी पैंटें पहनने लगे हों, बेहद क्रूरता का काम है।

बेटियों को अपने बालों को अपनी तरह से सँवारने की छूट दी जानी चाहिए। वे बाल लम्बे रखें या छोटे, या चोटियाँ गूँथें। अगर वे लिपस्टिक लगाना चाहें तो उसमें हर्ज़ क्या है? व्यक्तिगत स्तर पर मुझे उससे नफरत है पर मेरी बेटी लगाना चाहेगी तो मैं उसे मना नहीं करूँगा।

छोटे बच्चों की कपड़ों में कोई सहज रुचि नहीं होती। पर जिन बच्चों के माता-पिता कपड़ों के बारे में हमेशा फिक्रमन्द रहते हैं वे बच्चे भी कुछ समय बाद ऐसी ग्रन्थि के शिकार हो जाते हैं। वे पेड़ पर इस डर से नहीं चढ़ते कि कहीं पैट फट न जाए।

सामान्य बच्चे अपने कपड़े इधर-उधर पटकते रहते हैं। स्वेटर उतारने के बाद भूल जाते हैं कि वह कहाँ धरा था। गर्मियों की शाम स्कूल परिसर में घूमते वक़्त मुझे ढेरों जूते और जर्सियाँ बिखरे मिलते हैं।

जो बच्चे छात्रावास में नहीं रहते, उन्हें पड़ोसियों की राय को लगातार झेलना पड़ता है। ज़रा उन हज़ारों बच्चों की बात सोचिए जिन्हें इतवारी कपड़ों के नाम पर बलि चढ़ाया जाता है। वे कलफदार कॉलरों और सफ़ेद कपड़ों में जकड़े हुए चलते दिखाई देते हैं और किसी गेंद को लतियाने या फाटक पर चढ़ने से डरते हैं। सौभाग्य से यह बेवकूफी अब धीरे-धीरे खत्म हो रही है।

समरहिल में गर्मियों में लड़के और शिक्षक खाते वक़्त बिना कमीज़ों के देखे जा सकते हैं। इस पर किसी को कोई आपत्ति नहीं होती। ऐसी छोटी-मोटी बातों को हम उनकी सही जगह पर रखते हैं। उनके प्रति उदासीन ही रहते हैं।

कपड़ों को लेकर माता-पिता रुपए-पैसों से जुड़ी ग्रन्थि का प्रदर्शन करते हैं। हमारे यहाँ एक किशोर चोर आया था। चार साल की कड़ी मेहनत और शिक्षकों के अथाह धीरज के बाद वह सुधर सका। जब सत्रह साल की उम्र में वह घर लौटा तो उसकी

माँ ने एक खत लिखा। “बिल घर आ गया है। उसके दो जोड़ी मोज़े गायब हैं। कृपया उन्हें लौटाने की व्यवस्था करें।”

कई बार आवासगृह माता के प्रति भी, माता-पिता अपनी जलन दर्शाते हैं। कुछ माएँ मिलने आने पर सीधे बच्चों के कपड़ों की अलमारी की ओर जाती हैं, नाक-भौं सिकोड़ती हैं और “चच्च चच्च” करती हैं। जताना चाहती हैं कि आवासगृह माता पूरी देखभाल नहीं करती। दरअसल वे बच्चे के प्रति बेहद चिन्तित रहती हैं। कपड़ों को लेकर चिन्ता दरअसल उसके सीखने और हमारे दूसरे मसलों के प्रति चिन्ता है।

खिलौने

अगर मुझमें व्यावसायिक बुद्धि होती तो मैं खिलौनों की दुकान खोलता। हरेक बालवाड़ी ढेरों टूटे-फूटे खिलौनों से भरी होती है। उनकी कोई भी देखभाल नहीं करता है। हरेक मध्यमवर्गीय बच्चे के पास हद से ज़्यादा खिलौने होते हैं। सच्चाई यह है कि महँगे खिलौने हमेशा बरबाद होते हैं।

ज़ोई को एक बार एक पुराने छात्र ने एक बहुत ही बढ़िया बोलने वाली गुड़िया लाकर दी। ज़ाहिर था कि गुड़िया बड़ी महँगी थी। ठीक उसी दौरान एक नए छात्र ने उसे एक सस्ता-सा खरगोश भी दिया। उस कीमती गुड़िया से ज़ोई कुल आठ घण्टा खेली होगी। पर उस सरस्ते खरगोश से हफ़्तों तक खेलती रही। हर रात सोते समय वह खरगोश के साथ सोती रही।

ज़ोई के तमाम खिलौनों में एक ही के प्रति उसका प्यार लम्बे समय तक बना रहा। यह खिलौना था एक गुड़िया जो पेशाब करती थी। गुड़िया मैंने उसे तब दी थी जब वह डेढ़ साल की थी। गुड़िया पेशाब कैसे करती है इसमें उसकी कोई रुचि नहीं थी। जब वह चार साल की हुई तब उसने कहा, “मुझे गुड़िया अब अच्छी नहीं लगती। मैं किसी को यह दे देना चाहती हूँ।”

कुछ साल पहले बड़े बच्चों से मैंने एक सवाल पूछा था। “तुम्हें अपने छोटे भाई या बहन पर सबसे ज़्यादा गुस्सा कब आता है?” प्रायः हरेक बच्चे का जवाब समान था “जब वह मेरे खिलौने तोड़ता है।”

कोई खिलौना कैसे चलता है या काम करता है, वह बच्चों को कभी नहीं बताना चाहिए। बल्कि उसकी तब तक मदद नहीं करनी चाहिए जब तक वह उसके राज़ को खुद सुलझा ही न सके।

स्वनिर्देशित बच्चे घण्टों अपने खेल-खिलौनों में उलझे रह पाते हैं। वे उन्हें तोड़ते-फोड़ते भी नहीं, जैसे अक्सर वयस्कों द्वारा निर्देशित बच्चे करते हैं।

कोई कारण नहीं है कि किसी निजी घर में या जिस कमरे से आवाज़ बाहर न निकलती हो, बच्चों को रसोई के शोर करने वाले बर्तनों से खेलने से रोका जाए। ढक्कन, चम्मच बजाने या ढोल पीटने में मज़ा आता है। सम्भव है कि दुकानों में बिकने वाले खिलौनों की बजाए बच्चे को उनमें ही अधिक मज़ा आए। अक्सर बाज़ारू खिलौने बच्चे को उबाते हैं। हाँ देखा जाए तो औसत खिलौने बच्चों को उर्नीदा बना देते हैं।

माँ-बाप आदतन बच्चे के लिए ज़रूरत से ज़्यादा खिलौने खरीदते हैं। बच्चों ने किसी ट्रैक्टर या ज़िराफ की ओर हाथ बढ़ाया और गर्दन हिलाई कि तुरन्त, उसी दम, वे उसे खरीद लेंगे। यही कारण है कि अधिकांश बच्चों के कमरे में ऐसे ढेरों खिलौनों का अम्बार होता है जिनमें उसकी वास्तविक रुचि तक नहीं होती।

बाज़ार में आज रचनात्मक खिलौनों की भारी कमी है। धातु या लकड़ी के ऐसे कई खिलौने हैं जिनसे कुछ बनाया जा सकता है, पर ये रचनात्मक खिलौने नहीं हैं। निर्माण करने वाले खिलौने, शब्द या गणित की पहेलियों की तरह होते हैं। क्योंकि उन्हें किसी दूसरे ने बनाया होता है, इसलिए उनके समाधान पूरी तरह मौलिक हो ही नहीं सकते। मुझे स्वीकारना पड़ रहा है कि मैं कोई मौलिक खिलौना ईजाद नहीं कर पाया हूँ। न ही इस दिशा में मेरे पास कोई सुझाव ही हैं। खिलौनों की दुनिया एक ऐसे जादूगर की तलाश में है जो आज के खिलौना निर्माताओं के बजाए बच्चों के दिलों के करीब पहुँच सके।

शोर

माता-पिता को यह तथ्य स्वीकारना और उसके साथ जीना होगा कि बच्चे स्वभाव से शोरगुल मचाने वाले होते हैं। अगर बच्चे का सही व स्वस्थ विकास होना है, तो उसे काफी शोरगुल भरे खेल की छूट देनी होगी।

मैं चालीस सालों से बच्चों के शोर के साथ जी रहा हूँ। अमूमन मैं कोशिश करता हूँ कि मैं वे आवाज़ें न सुनूँ। बच्चों के शोरगुल की तुलना एक पीतल की फैक्ट्री से की जा सकती है। वहाँ लोगों को हथौड़ों की ठोक-पीट की आदत पड़ जाती है। इसी तरह जिनके घर व्यस्त सड़कों पर स्थित होते हैं वे गाड़ियों के शोर के आदी हो जाते हैं। फर्क इतना भर है कि हथौड़ों की ठोक-पीट और गाड़ियों के शोर में एक तरह की निरंतरता होती है। पर बच्चों का शोर विविध और कर्णकटु होता

है। उस शोर से सिर भन्नाने लगता है। कुछ साल पहले जब मैं मुख्य भवन से निकलकर पास के कॉटेज में रहने लगा तो पचासेक बच्चों के शोर से भरे कई सालों के बाद मुझे अपनी शामें शान्त और सुखदाई लगने लगीं।

समरहिल का भोजनकक्ष बेहद चिल्ल-पौं वाली जगह है। जानवरों की तरह बच्चे भी खाने के समय बड़ा शोर करते हैं। हम केवल उन मेहमानों को बच्चों के साथ खाने पर आमंत्रित करते हैं जिन्हें हंगामा परेशान नहीं करता। मैं और मेरी पत्नी अलग खाते हैं क्योंकि हर दिन दो घण्टे बच्चों को भोजन परोसने के बाद कुछ देर के लिए उस शोर से निजात पाना हमारे लिए ज़रूरी हो जाता है। शिक्षकों को बहुत शोर पसन्द नहीं आता पर किशोर बच्चे छोटे बच्चों के शोरगुल को आसानी से झेलते हैं। जब कभी कोई बड़े बच्चे भोजनकक्ष में छोटे बच्चों के शोर का सवाल उठाते भी हैं, तो छोटे बच्चे इसके विरोध में दूसरी सच्चाई सामने रखते हुए कहते हैं कि बड़े बच्चे भी उतना ही शोर करते हैं।

शोरगुल को दबाना या नियंत्रित करना बच्चों पर उतना भारी दमनकारी असर नहीं डालता जितना शारीरिक क्रियाओं में रुचि को दबाने का होता है क्योंकि शोर कभी गन्दा नहीं कहा जाता। जब पिता नाराज़ है और चीखता है “बन्द करो यह शोर!” तो यह उसके अधैर्य की ईमानदार अभिव्यक्ति होती है। पर जब माँ-बाप, “हे ईश्वर! छिः गन्दा!” कहते हैं तो उसमें नैतिक विस्मय की ध्वनि होती है।

समरहिल में कुछ बच्चे पूरे दिन सिर्फ़ खेलते हैं, खासकर जब सूरज मेहरबान होता है। उनका खेल अमूमन शोरगुल भरा होता है। अधिकांश स्कूलों में खेल की तरह शोर का भी दमन किया जाता है। हमारा एक पुराना छात्र पढ़ाई के बाद स्कॉटिश विश्वविद्यालय गया। उसने हमें लिखा कि छात्र कक्षाओं में बेहद शोर करते हैं। यह बात बड़ी थकाती है क्योंकि हम समरहिल में दस साल की उम्र में ही इस चरण को पार कर चुके थे।

मुझे *द हाउस विद द ग्रीन शटर* नामक उपन्यास की एक घटना याद आती है। उसमें एक कमज़ोर शिक्षक को चिढ़ाने और परेशान करने के लिए एडिनबरो विश्वविद्यालय के छात्र अपने पैरों से आवाज़ निकाला करते थे। शोर और खेल साथ चलते हैं, लेकिन वे सात और चौदह की उम्र के बीच ही सर्वोत्तम होते हैं।

आचरण

अच्छे आचरण का मतलब है दूसरों के बारे में सोचना, उनके बारे में महसूस करना। व्यक्ति को समूह के प्रति सचेत होना चाहिए। खुद को दूसरे की स्थिति में रख पाने

की क्षमता होनी चाहिए। शिष्ट आचरण दूसरे को तकलीफ पहुँचाने की छूट नहीं देता। भद्र होने का मतलब है सच में सुरुचिपूर्ण होना। ऐसा भद्र आचरण सिखाया नहीं जा सकता, वह तो अचेतन मानस का हिस्सा होता है।

इसके विपरीत शिष्टाचार सिखाया जा सकता है क्योंकि वह चेतन मानस का हिस्सा होता है। शिष्टाचार भद्र आचरण का मुलम्मा भर है। शिष्टाचार हमें संगीत सभा के दौरान फुसफुसाने की, दूसरों पर टीका-टिप्पणी करने और उनकी निन्दा करने की अनुमति देता है। शिष्टाचार हमें खाने के पहले कपड़े बदलने, किसी महिला के अन्दर आने पर कुर्सी छोड़ने, मेज़ से उठने पर “माफ कीजिए” कहने पर बाध्य करता है। पर यह सब बाहरी दिखावा है।

अभद्र आचरण हमेशा मन की गड़बड़ी से उपजता है। झूठ बोलना, बुराई करना, दूसरों पर टीका-टिप्पणी करना, किसी के पीठ पीछे बकवास करना, ये सब व्यक्तिगत कमज़ोरियाँ हैं। ये कमज़ोरियाँ यह बताती हैं कि वह व्यक्ति खुद से नफरत करता है। इनसे यही सिद्ध होता है कि झूठी बुराई करने वाला स्वयं दुखी है। अगर हम बच्चों को ऐसी दुनिया में ले जाएँ जहाँ वे खुश रह सकें तो घृणा करने की इच्छा भी मर जाएगी। दूसरे शब्दों में ये बच्चे सच्चे और एक गहरे अर्थ में भद्र आचरण करने वाले होंगे। यानी उनमें सच में स्नेह भरी करुणा होगी।

कुछ बच्चे काँटे-छुरी से मटर खाने में महारत हासिल कर पाते हैं पर वे ही बच्चे बीथोवन की सिम्फनी के दौरान संगीत सुनने के बदले गप्पें लड़ा सकते हैं। पर जो श्रीमती ब्राउन के सामने पड़ने पर तुरन्त टोपी उतारकर सर नहीं झुकाते, वे लौटकर यह भी नहीं बताते कि श्रीमती ब्राउन ब्राण्डी पीती हैं।

मेरे एक भाषण के दौरान एक बुजुर्ग खड़े हुए और आज के बच्चों की अभद्रता की शिकायत करने लगे। उन्होंने गर्म होकर कहा, “पिछले इतवार मैं पार्क में जा रहा था तो दो छोटे बच्चे आए। उनमें से एक बोला, ‘हेलो मैन!’”

मैंने पूछा, “तो इसमें क्या हर्ज़ था? अगर वह कहता ‘हलो भद्रपुरुष’ तो क्या आपको बेहतर लगता? सच्चाई यह है, आपका आत्मसम्मान आहत हो गया। आपको बच्चों से भद्रता की गुलामी की अपेक्षा है।”

यह बात कई वयस्कों के बारे में सच है। यह विशुद्ध घमण्ड ही है। यह कुछ ऐसा है मानो आप सामन्ती राजा हैं और बच्चे आपकी प्रजा हैं। यह स्वार्थ है, जिसका बच्चों के स्वार्थ की तरह, कोई औचित्य भी नहीं है। बच्चों को तो स्वार्थी होना ही होता है, पर वयस्कों को अपने स्वार्थीपन को केवल वस्तुओं तक सीमित रखना चाहिए। व्यक्तियों को उसके दायरे में नहीं लपेटना चाहिए।

मैं देखता हूँ कि बच्चे एक-दूसरे की गलतियाँ सुधारते हैं। मेरा एक छात्र खाते समय

काफी चपचप करता था। उसके सभी दोस्त उसे टोकते थे। पर जब एक नन्हें ने कीमा खाने के लिए चक्कू को काम में लिया तो सबको यह तरीका बड़ा पसन्द आया। वे एक-दूसरे से पूछने लगे कि खाने के लिए काँटा ही क्यों, चक्कू क्यों नहीं काम में लिया जा सकता। यह जवाब कि उससे मुँह कट सकता है, उन्हें नहीं जँचा। क्योंकि उनका मानना था कि खाने के चक्कू अक्सर इतने भोथरे होते हैं कि उनसे कुछ भी नहीं कटता।

बच्चों को यह छूट होनी चाहिए कि वे शिष्टाचार पर सवाल उठाएँ। आखिर कोई मटर खाने के लिए काँटे-छुरी का इस्तेमाल करता है या नहीं, व्यक्तिगत मामला है। पर जिन्हें *सामाजिक आचरण* कहा जाता है उन पर सवाल उठाने की छूट उन्हें नहीं होनी चाहिए। अगर कोई बच्चा कीचड़ में सने जूते लेकर बैठक घर में घुस आए तो हम सब चिल्लाते हैं। क्योंकि बैठक का कमरा बड़ों का होता है। वहाँ वयस्कों को अधिकार होता है कि वे तय करें कि कौन-कैसे घुस सकता है, और कौन नहीं।

एक लड़के ने हमारे कसाई से बदतमीज़ी की। मैंने स्कूल की आम सभा में कहा कि कसाई ने शिकायत की है। पर मुझे लगता है कि बेहतर यह होता कि वह पलटकर उस लड़के को एक झापड़ रसीद कर देता। लोग जिन्हें अमूमन भद्रता कहते हैं, उसमें सिखाने लायक कुछ भी नहीं होता। हद से हद ये नियम-कायदे, सामाजिक तौर-तरीकों के अवशेष कहलाए जा सकते हैं। महिलाओं के आने पर सिर पर से टोपी उठाना एक अर्थहीन रिवाज़ है। मैं जब छोटा था तो मैं पादरी साहब की पत्नी को देखकर टोपी उठाता था, पर अपनी माँ या बहन को देखकर नहीं। शायद मुझे कहीं यह लगता होगा कि माँ और बहन के सामने ढोंग की ज़रूरत नहीं है। वैसे देखा जाए तो टोप उतारने का रिवाज़ कम-से-कम नुकसानदेह तो नहीं है। पर बेहतर यही है कि दस साल के बच्चों से ऐसी चीज़ें दूर ही रखी जाएँ, जिनसे ढोंग की बू आती हो।

भद्र व्यवहार सिखाया नहीं जाना चाहिए। अगर सात साल की लड़की या लड़का हाथ से खाना चाहे तो उसे इसकी छूट दी जानी चाहिए। किसी भी बच्चे को ऐसा व्यवहार करने के लिए सिर्फ़ इसलिए बाध्य नहीं करना चाहिए कि मेरी चाचीजी उसे पसन्द करती हैं। बच्चे को बेईमानी भरा शिष्टाचार सिखाने के बदले दुनिया भर के रिश्तेदारों और पड़ोसियों की तिलांजलि देना बेहतर है।

समरहिल के पुराने छात्र-छात्राओं का आचरण बेहद भद्र है। इस बात के बावजूद कि बारह साल की उम्र में उन्होंने खाते वक्त अपनी थालियाँ चाटी थीं। किसी बच्चे को 'धन्यवाद' कहने पर बाध्य नहीं करना चाहिए। बल्कि उन्हें 'धन्यवाद' कहने को प्रोत्साहित भी नहीं करना चाहिए।

वयस्कों के बनाए शिष्टाचार को काम में लेने वाले अधिकांश लोग अगर यह जानते कि सामान्य साँचे में ढले लड़के-लड़कियों की भद्रता कितनी सतही होती है, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य होता। बहुत शिष्ट आचरण वाले बच्चे भी समरहिल आते हैं तो उनका शिष्टाचार कुछ समय में पूरी तरह झड़ जाता है। शायद वे यह समझ पाते हैं कि उनका बनावटी शिष्टाचार यहाँ बहुत बेमानी लगता है। वे अपनी आवाज़ की बेईमानी, आचरण और कृत्यों की बेईमानी त्याग देते हैं। निजी स्कूलों से आए बच्चों को ही बेईमानी और बदतमीज़ी त्यागने में सबसे ज़्यादा समय लगता है। पर आज्ञाद बच्चे गुस्ताखी नहीं करते हैं।

मेरे अनुसार स्कूल के मास्टर साहब के प्रति श्रद्धा एक कृत्रिम झूठ है, जिसके लिए ढोंग का सहारा लेना पड़ता है। जब कोई सच में किसी का आदर करता है तो वह अनायास ही करता है। मेरे छात्र मुझे जब चाहें ‘बेवकूफ गधा’ कह सकते हैं। पर वे मेरा आदर इसलिए करते हैं क्योंकि मैं भी उनका आदर करता हूँ। इसलिए नहीं कि मैं स्कूल का प्रधानाध्यापक हूँ और आले पर धरे भगवान की मूरत के समान हूँ जिसके सामने सिर झुकाना ज़रूरी है। हमारे बीच परस्पर श्रद्धा इसलिए है क्योंकि हम एक-दूसरे को पसन्द करते हैं, एक-दूसरे के प्रशंसक हैं।

एक बार एक माँ ने सवाल किया, “अगर मैं अपने बच्चे को यहाँ पढ़ने भेजूँ तो छुट्टियों में घर आने पर वह जंगली व्यवहार तो नहीं करेगा?”

मेरा जवाब था, “बेशक ! अगर आपने उसे जंगली बना दिया है तो ज़रूर करेगा।”

यह सच है कि जो बिगड़ल समरहिल आने के बाद घर जाते हैं, तो कम-से-कम पहले साल तक वे घर लौटने पर बेहद जंगली व्यवहार करते हैं। अगर उसे शिष्टाचार सिखाकर बड़ा किया गया है तो बच्चा हर बार जंगलीपन पर उतरेगा। पर इससे यही तो सिद्ध होता है कि कृत्रिम शिष्टाचार बच्चों के गले नहीं उतरता।

कृत्रिम शिष्टाचार हमारे दिखावटीपन की सतह है जो आज्ञादी के वातावरण में सबसे पहले उतार फेंकी जाती है। नए बच्चे सामान्यतः बड़ा शिष्ट आचरण करते हैं। मतलब बनावटी व्यवहार करते हैं। पर समय के साथ वे समरहिल में भद्र व्यवहार भी सीखते हैं। यह वास्तविक भद्रता होती है, इसलिए क्योंकि हम किसी तरह के शिष्टाचार की माँग नहीं करते। हम बच्चों से ‘कृपया’ और ‘धन्यवाद’ तक नहीं बुलवाते। फिर भी बाहर से आए मेहमान कहते हैं कि हमारे बच्चों का व्यवहार बहुत अच्छा है।

पीटर जो हमारे पास आठ साल की उम्र से उन्नीस साल तक रहा, बाद में दक्षिण अफ्रीका गया। वहाँ से उसकी मेज़बान महिला ने खत में लिखा, “हरेक व्यक्ति उसके भद्र आचरण से मोहित है।” पर वह समरहिल में इतने सालों तक रहा तो

मेरा ध्यान इस बात पर कभी नहीं गया कि उसका आचरण बढ़िया है या नहीं। दरअसल समरहिल एक वर्गहीन समाज है। यहाँ किसी बच्चे का पिता धनी है या उनका ओहदा ऊँचा है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। जिस चीज़ का असर होता है वह है बच्चे का व्यक्तित्व। और जिस चीज़ का सबसे ज़्यादा महत्व है वह यह है कि बच्चा कितना मिलनसार है। यानी वह समुदाय का अच्छा सदस्य बन सकता है या नहीं। हमारे यहाँ जो आचरण नज़र आता है वह हमारे स्वशासन की उपज है। यहाँ हरेक को दूसरे के नज़रिए को देखने और समझने पर बाध्य होना पड़ता है। हम यह कल्पना तक नहीं कर सकते कि कोई तुतलाने वाले या लंगड़े बच्चे पर हँसे, उसका मखौल उड़ाए। पर अन्य नामी-गिरामी निजी स्कूलों में ये दोनों बातें अक्सर दिखती हैं। जो लड़के-लड़कियाँ हमेशा बड़ी शिद्दत से 'कृपया', 'धन्यवाद' और 'सर, ज़रा माफ करें' आदि कहते हैं उनमें दूसरों के प्रति वास्तविक सरोकार पूरी तरह नदारद हो सकता है।

भद्र आचरण दरअसल ईमानदारी का मामला है। समरहिल छोड़ने के बाद हमारा एक छात्र जैक एक फ़ैक्ट्री में काम करने लगा। उसने पाया कि जो व्यक्ति लोगों को नट-बोल्ट दिया करता था उसका मिजाज़ हमेशा खराब रहता था। जैक ने इस पर ख़ूब सोचा और तब इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हरेक मैकेनिक बिल के पास जाता और चीखता, "सुन, बिल ज़रा आठ इंच वाले नट तो निकाल दे।" बिल कोट-पैट पहनता था। जैक को लगा कि बिल सोचता है कि वह वर्दी पहनने वाले मैकेनिकों से कहीं ऊँचा है। पर दूसरे उसे अपने जैसा साधारण आदमी ही मानते हैं और जो सम्मान उसे मिलना चाहिए वह नहीं देते। इसी वजह से बिल गरमाया रहता है। सो जौक को जब भी नट-बोल्ट चाहिए होते वह बिल के पास जाता और कहता, "माफ़ कीजिए, मिस्टर ब्राउन, मुझे कुछ नट-बोल्ट चाहिए।"

जैक ने मुझे बताया, "मैं उनकी मस्का-पॉलिश नहीं कर रहा था। मैं तो सिर्फ़ मनोविज्ञान काम में ले रहा था। दरअसल मुझे उसके लिए बड़ा दुख होता था।" मैंने जानना चाहा, "इसका नतीजा क्या निकला?"

"ओह!" जैक ने कहा, "फ़ैक्ट्री में अकेला मैं ही हूँ, जिससे वह सीधे मुँह बात करता है।"

इसे मैं भद्रता का बेहतरीन नमूना कहता हूँ। सामुदायिक जीवन बच्चों को जो बात सिखाता है, वह है - दूसरों की भावना का ख़याल रखना।

छोटे बच्चों में अभद्र व्यवहार पर मेरी नज़र भी नहीं जाती। इसलिए, क्योंकि मैं यह तलाशता भी नहीं। पर फिर भी मैंने यह कभी नहीं देखा कि बातचीत करने वाले दो मेहमानों के बीच से कोई छोटा बच्चा भागता हुआ घुस आए। बच्चे मेरी

बैठक में आने के पहले दस्तक नहीं देते, पर घुसने पर अगर देखें कि मैं मेहमानों से बात कर रहा हूँ, तो चुपचाप, माफी माँगकर खिसक लेते हैं।

हाल में एक सौदा लाने वाले ने हमारे बच्चों की तारीफ की। उसने मुझसे कहा, “मैं पिछले तीन सालों से अपनी गाड़ियाँ लेकर आता रहा हूँ। एक मर्तबा भी किसी ने उसे न तो खरौंचा, न उनमें घुसने की कोशिश की और यह उस स्कूल की बात है जिसके बच्चों के लिए कहा जाता है कि वे दिन भर खिड़कियाँ तोड़ते रहते हैं।”

समरहिल में बच्चे मेहमानों से दोस्ताना बर्ताव करते हैं, जिस बारे में मैं पहले ही बता चुका हूँ। दोस्ताना बर्ताव भी भद्र आचरण ही की श्रेणी में आता है। जो मेहमान मन में शंकाएँ या विरोध लिए आते हैं, मैंने उनसे भी बच्चों को बदतमीज़ी करते नहीं देखा है। बशर्त वे बच्चे हमारे पास कम से कम छह महीने रह चुके हों।

हमारे नाटकों के दौरान बच्चों का आचरण अच्छा होता है। अगर नाटक बढ़िया न भी हो तो भी कुछ तालियाँ तो बजती ही हैं - ज़ाहिर है कम बजती हैं। सब यह मानकर चलते हैं कि अभिनय करने वाले और नाटककार ने पूरी कोशिश की है, जिसकी आलोचना नहीं होनी चाहिए, उसका मज़ाक नहीं उड़ना चाहिए।

कुछ माता-पिता के लिए शिष्टाचार सबसे बड़ा कीड़ा है। एक भद्र घर का दस साल का बच्चा समरहिल आया। वह बैठक में घुसने पर दरवाज़ा खटखटाता, जाते समय दरवाज़ा धीमे से बन्द करता। मैंने घोषणा की कि यह सब ऊपरी शिष्टाचार सप्ताह भर ही चलेगा। पर मैं गलत सिद्ध हुआ, वह व्यवहार सिर्फ दो दिन ही चला।

मैं किसी बच्चे पर चिल्लाता हूँ, “दरवाज़ा बन्द करो भाई!” इसलिए नहीं कि मैं उसे भद्र आचरण सिखाना चाहता हूँ। इसलिए कि मैं खुद उठकर दरवाज़ा बन्द नहीं करना चाहता। भद्र आचरण की अवधारणा वयस्क अवधारणा है। बच्चों की, फिर चाहे वे किसी प्रोफेसर के बच्चे हों या कुली के, भद्र आचरण में कोई रुचि नहीं होती।

सभ्यता की प्रगति के लिए दुनिया से ढोंग और कपट हटाना है। हमें बच्चों को अपनी सभ्यता के दिखावटीपन से आगे बढ़ने की छूट देनी होगी। हम बच्चों को भय और घृणा से मुक्त कर सकें तो दरअसल हम भद्र आचरण को नई सभ्यता की दिशा में बढ़ाने में मददगार हो सकेंगे।

पैसा/धन

अधिकांश बच्चों के लिए पैसा प्रेम का प्रतीक है। चाचा मुझे चवन्नी देते हैं, पर बुआ मुझे रुपया। सो बुआ मुझे चाचा से ज़्यादा प्यार करती हैं। माता-पिता यह समझते हैं और इसीलिए अक्सर अपने बच्चों को ज़रूरत से ज़्यादा पैसा दे, उन्हें बिगाड़ते हैं। जिस बच्चे को वे प्यार नहीं करते, उसकी भरपाई करने के लिए उसे ज़्यादा जेबखर्च देते हैं।

हममें से कोई भी जीवन में पैसे का मोल आँकने से बच नहीं सकता। इसका दबाव हर ओर से आता है। हम संगीत सुनने बालकनी की टिकटें खरीदकर बैठते हैं, हमारे बच्चे गर्मियों की छुट्टियों में महँगे निजी शिविरों में जाते हैं। पैसे का मूल्य सबके लिए एक खतरा है।

कोई माँ प्रतिवाद में कहती है, “अपनी बेटी को मैं दुनिया भर के सोने के बदले भी न बेचूँ।” पाँचेक मिनट बाद ही अगर बच्ची से गलती से भी पाँच रुपए की एक प्लेट टूट जाए तो उसे ठोक देती है।

माता-पिता बच्चे में पैसे की चिन्ता ढूँसते हैं। मैंने अक्सर किसी बच्चे को दुखी हो कहते सुना है, “हाय, मेरी घड़ी गिरकर टूट गई। माँ क्या कहेगी? मुझे तो उसे बताने में भी डर लग रहा है।”

यदाकदा इसका उल्टा भी नज़र आता है। मैंने किसी लड़के या लड़की को अपने घर के प्रति नफरत ज़ाहिर करने के लिए जानबूझकर चीज़ें तोड़ते देखा है। वे सोचते हैं, “मेरे माँ-बाप मुझे प्यार नहीं करते, इसकी कीमत उन्हें चुकानी होगी।” जब उन्हें नील स्कूल से तोड़-फोड़ का बिल भेजेगा तो वे गुस्से से पागल हो जाएँगे।

कुछ माता-पिता समरहिल में पढ़ने वाले अपने बच्चों को कुछ ज़्यादा ही जेबखर्च भेजते हैं, तो कुछ बहुत कम। मेरे लिए यह हमेशा से एक बड़ी समस्या रही है, जिसका कोई समाधान नहीं है। हर सोमवार को सभी बच्चों को दो पैसे का जेबखर्च मिलता है। पर कुछ के पास डाक से काफी पैसे आते हैं, कुछ के पास बिलकुल नहीं।

स्कूल की आमसभा में मैंने कई बार यह सुझाव रखा है कि जेबखर्च का सारा पैसा एक साथ जमा कर लिया जाए और सबमें बराबर बाँटे। मैंने कहा है कि किसी को

सप्ताह में पाँच रुपए मिलें और किसी को चवन्नी, यह अन्याय है। ज़्यादा पैसा पाने वाले बच्चों की संख्या बहुत कम होते हुए भी मेरा यह प्रस्ताव कभी नहीं माना गया। जो सिर्फ़ चवन्नी पाता है वही बच्चा अपने अमीर दोस्तों की आमदनी को सीमित करने को तैयार नहीं होता।

फिर भी मेरा मानना है कि बच्चे को अधिक देने के बदले कम देना ही बेहतर है। जो पिता एक बारह साल के बच्चे को पाँच डॉलर का नोट थमाता है वह नासमझी कर रहा है। यह तभी होना चाहिए जब इतनी बड़ी राशि का कोई खास उद्देश्य हो, जैसे साइकिल की बत्ती खरीदना। अधिक पैसा बच्चों के मूल्य बिगाड़ता है। किसी बच्चे को एक ख़ूबसूरत, कीमती साइकिल देना, जिसकी वह देखभाल तक न करे या कोई रेडियो या महँगा खिलौना देना जो रचनात्मक न हो, बेमानी है।

ज़्यादा पैसा बच्चे के काल्पनिक जगत को बाधित करता है। किसी बच्चे को महँगी नाव देने पर, लकड़ी के टुकड़े से खुद अपनी नाव बनाने का रचनात्मक आनन्द भी छिन जाता है। अक्सर कोई नन्ही खुद की बनाई कपड़े की गुड़िया को महँगी, ख़ूबसूरत कपड़े पहने, बाज़ार में बिकने वाली, राने या बोलने वाली गुड़िया से कहीं ज़्यादा प्यार करती है।

मैंने पाया है कि छोटे बच्चे रुपए-पैसे को कीमती नहीं मानते। पाँच साल का नन्हा या नन्ही अपनी चवन्नी, अठन्नी गिरा या फेंक देता है। इससे सीख यह मिलती है कि बच्चों को पैसे बचाना सिखाना गलत है। घरेलू बचत बैंक, बच्चे से नाजायज़ माँग रखता है। किसी सात साल के बच्चे के लिए यह बात बेमानी है कि उसके खाते में सौ-पचास रुपए जमा हैं, खासकर तब जब उसे यह शक हो कि किसी दिन उसके माँ-बाप वह पैसा निकालकर उससे कुछ ऐसी चीज़ खरीद देंगे जो वह चाहता तक नहीं।

विनोद/हास्य

हमारे स्कूलों में और शैक्षिक पत्रिकाओं में हास्य-विनोद की भारी कमी है। मैं जानता हूँ कि विनोद के अपने खतरे हैं। कुछ लोग ज़िन्दगी के अधिक गम्भीर मुद्दों को छुपाने के लिए भी विनोद का इस्तेमाल करते हैं क्योंकि किसी चीज़ का सामना करने से अधिक आसान है उसे हँसी-मज़ाक में उड़ा देना। बच्चे विनोद का इस तरह से इस्तेमाल नहीं करते। उनके लिए विनोद और मस्ती का मतलब है दोस्ती, याराना। कठोर शिक्षक यह जानते हैं इसीलिए वे अपनी कक्षा से हँसी-मज़ाक को दूर रखते हैं।

सवाल यह है कि क्या एक सरख्त शिक्षक में विनोद की भावना हो भी सकती है? मुझे तो इसमें शंका है। मैं अपने रोज़मर्रा के काम में दिन भर इसका इस्तेमाल करता हूँ। मैं हरेक बच्चे से हँसी-मज़ाक करता हूँ, पर उनको यह भी पता है कि ज़रूरत पड़ने पर मैं पूरी तरह से गम्भीर भी हो सकता हूँ।

आप बच्चों के माता-पिता हों या शिक्षक हों, उनसे सही तरह से निपटने के लिए आपको उनके विचार और भावनाओं को समझना होगा। और आपका स्वभाव विनोदी होना चाहिए - वह भी *बचकाना* विनोदी। बच्चे से हँसी-मज़ाक करने से उसे लगता है कि आप उसे प्यार करते हैं। ध्यान रहे यह विनोद तीखा या आलोचनात्मक न हो।

बच्चों में विनोद को विकसित होते देखना बड़ा मज़ेदार होता है। बल्कि इसे मस्ती कहना चाहिए क्योंकि बच्चों में विनोद जागने से पहले मस्ती की भावना जन्मती है। डेविड बारटन का तो जन्म ही मानो समरहिल में हुआ था। जब वह तीनेक साल का था तो मैं उससे कहता, “मैं समरहिल देखने आया हूँ और नील को तलाश रहा हूँ। बताओ ज़रा, वे कहाँ हैं?” डेविड मेरी ओर तिरस्कार से देखता और कहता, “बेवकूफ, तुम्हीं तो नील हो।”

जब डेविड सात साल का हुआ तो एक दिन मैंने उसे बाग में रोका। मैंने पूरी गम्भीरता से कहा, “डेविड बारटन से कहना कि मैं उससे मिलना चाहता हूँ। शायद वह कॉटेज में है।”

डेविड की बाँछें खिल उठीं। उसने कहा, “ठीक है!” और वह कॉटेज तक गया और दो मिनट में लौट आया।

“वह कह रहा है कि वह नहीं आएगा।” उसने एक चतुर मुस्कान के साथ कहा।

“उसने कोई कारण बताया?”

“जी हाँ, उसने कहा कि वह अपने चीते को खाना खिला रहा है।”

सात साल की उम्र में वह मज़ाक समझने लगा और मौका पड़ने पर पीछे नहीं हटा। पर जब मैंने दो साल के रेमण्ड से कहा, “क्योंकि उसने हमारा मुख्य द्वार चुरा लिया है उसके जेबखर्च के आधे पैसे सज़ा के बतौर काट लिए जाएंगे,” तो वह रो पड़ा। मुझे अपनी गलती का अहसास हो गया। परन्तु दो साल बाद वह मेरे मज़ाकों का अर्थ समझने लगा।

तीन साल की सैली उस वक्त खिलखिलाती है जब मैं शहर में उसे देखकर समरहिल का रास्ता पूछता हूँ। पर सात-आठ साल की लड़कियाँ मुझे उल्टा रास्ता दिखाती हैं।

जब बाहरी मेहमान आते हैं तो मैं कॉटेज में रहने वाले लड़कों का परिचय देते हुए कहता हूँ, “ये सुअर हैं और सुअरों की-सी आवाज़ निकालते हैं।” एक बार जब मैंने यह परिचय दिया तो मैं हक्का-बक्का रह गया क्योंकि एक आठ साल की लड़की ने नाक-भौं चढ़ाते हुए कहा, “क्या यह मज़ाक बासी नहीं हो चुका है?” मुझे मानना पड़ा कि वह सही थी।

लड़कियाँ भी उतनी ही विनोदी होती हैं जितने लड़के। पर वे अपने बचाव के लिए लड़कों की तरह विनोद का उपयोग नहीं करतीं। कई लड़के अपनी रक्षा इस तरह करते हैं। मैंने डेव पर असामाजिक व्यवहार का आरोप लगते देखा है। वह अपनी गवाही इतने मज़ाकिया लहज़े में देता है कि सब प्रभावित हो जाते हैं और उसे छुटपुट सज़ा ही मिलती है। पर लड़कियाँ आसानी से खुद को गलत मान लेती हैं और अपना बचाव ऐसे नहीं करती हैं। सबसे प्रबुद्ध घरों में भी लड़कियों में एक सामान्य हीनभावना होती है, जो हमारा समाज महिलाओं पर जन्म से ही लादता है।

बच्चे के साथ गलत समय पर हँसी-मज़ाक नहीं करना चाहिए, न ही उसके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचानी चाहिए। अगर उसकी शिकायत वास्तविक हो तो उसे पूरी गम्भीरता से लिया जाना चाहिए। जिस बच्चे को एक सौ दो बुखार हो तो उससे मज़ाक करना सही नहीं है। पर जब वह किसी रोग से ठीक हो रहा हो तो आप डॉक्टर बन मज़ाक कर सकते हैं। तब उसे मज़ाक समझ और पसन्द आएगा। शायद बच्चों को मज़ाक इसलिए पसन्द है क्योंकि इसमें दोस्ताना अन्दाज़ और हँसी का पुट होता है। हाज़िरजवाब बच्चे कभी भी चुभने वाला मज़ाक नहीं करते।